सन्मति-साहित्य रत्न-माला का ५२ वाँ रत्न

नय-वाद

लेखक
मुनि श्री फूलचन्द्र जी म० 'श्रमण'

सम्पादक
श्री विजय मुनि शास्त्री साहित्य रत्न

प्रकाशक—
सन्मति ज्ञान-पीठ,
लोहामण्डी, आगरा ।

प्रथम प्रदार्पण
जनवरी सन् १९५८
मूलय १ रु० ५० नए पैसे

मुद्रक—
कल्याण-प्रिंटिङ्ग प्रेस,
राजामण्डी, आगरा ।

द्रव्य सहयोग दाता

धर्मशीला, माता श्री गौरां देवी जो
लुधियाना (पजाब)

सहर्ष धन्यवाद

समर्पण

उस प्रकाश-पुञ्ज को—
जिन के अमृतमय वात्सल्य का,
सरस, शुभंकर और मधुर एवं सतेज,
विचार-स्फुलिंग पाकर ही मैं,
अहिंसा और अनेकान्त की,
संजीवनी शक्ति पा सका हूँ।

जिनके पवित्र कर कमलों से,
आचार की दीक्षा और विचार की
ज्योति पाकर मैं धन्य-धन्य हो गया,
उन परम-श्रद्धेय, पूज्य-चरण
'गुरुदेव श्री खज़ानचन्द्र जी महाराज को'
सविनय
सभक्ति
समर्पित

— फूल मुनि "श्रमण"

प्रस्तावना

दार्शनिक जगत् में अनेकान्त-वाद को एक स्वतन्त्र-वाद के रूप मे विकसित एव प्रतिष्ठित करने का सम्पूर्ण श्रेय जैनाचार्यों को है। 'अनुयोग द्वार' आदि जैन आगमो मे अनेकान्तवाद की मात्र प्राथमिक भूमिका देखी जाती है, किन्तु उसे दार्शनिक धरा-तल पर लाने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन और आचार्य मल्लवादी को है। सिद्धसेन ने 'सन्मति तर्क' में अनेकान्त-दृष्टि के जीवातु-भूत एवं मूलाधार 'नयवाद का विशद विवेचन किया है, तथा मल्लवादी ने 'नयचक्र' मे यह दिखलाने का सफल प्रयत्न किया है, कि दार्शनिक विचारो मे विविध नय किस प्रकार सन्निहित हैं ?

आचार्य समन्त भद्र ने 'आप्त-मीमांसा' में स्याद्वाद पर पैनी दृष्टि से विवेचन किया है, कि विभिन्न दर्शनो मे स्याद्वाद के विना किस प्रकार विचारो की असंगति रहती है। आचार्य अकलक और विद्यानन्द ने 'आप्त-मीमासा' पर पाण्डित्यपूर्ण विवरण लिखकर समन्तभद्र के गम्भीर विचारो की सत्यता सिद्ध की है।

आचार्य हरिभद्र ने 'अनेकान्त जय पताका' में तत्कालीन दार्शनिको के एकान्तवादी विचारो की सूक्ष्म-समीक्षा करके अनेकान्तवाद की स्थापना की। इसी प्रकार उत्तर कालीन जैन-दार्शनिको ने अपने युग में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और नय-वाद पर सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ में अनेकानेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्यो की सृष्टि की।

विक्रम सवत् की १७ वी शती के परम विद्वान् और विराट दार्शनिक उपाध्याय यशो विजय ने अपने 'अनेकान्तव्यवस्था' 'नय प्रदीप', 'नयोपदेश' और अष्ट सहस्री विवृत्ति आदि गौरवपूर्ण ग्रन्थो में भारतीय दर्शनो के १७ वी शदी तक के विकास को अनेकान्तवाद में आत्म सात्

कर दार्शनिक साहित्य के भण्डार को एक महत्त्वपूर्ण देन दी है।

आज का यह अणुयुग एव स्पूतनिक युग भले ही भौतिक विकास की ओर तीव्रगति से गतिमान हो, परन्तु उसके समक्ष एक प्रश्न अडा खडा है, कि वह मानव-कल्याण के लिए क्या कुछ दे रहा है, या दे सकता है? निःसदेह यह कहने के लिए मैं बाध्य हूँ, कि जब तक मानव समाज की अनेकान्तदृष्टि से विचार शुद्धि एव स्याद्वाद से भाषा शुद्धि नही होगी, तब तक मानव जीवन के कल्याण की दिशा स्थिर न हो सकेगी। अस्तु, पाश्चात्य दार्शनिको के विचारो को भी अनेकान्त के समन्वय मूलक साँचे में ढालने का आज शुभावसर आ चुका है। परन्तु यह शुभानुष्ठान किसी समर्थ विद्वान की राह देख रहा है।

आज हिन्दी राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। अतएव हिन्दी भाषा में भी अनेकान्तवाद के जनोपयोगी विविध साहित्य की सृष्टि अत्यावश्यक हो गई है। अस्तु इधर हिन्दी भाषा मे अनेकान्त-दृष्टि, स्याद्वाद और नयवाद पर पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का 'जैन-दर्शन एक महत्व पूर्ण ग्रथ है। मुनिराज श्री न्याय विजय जी का 'जैन-दर्शन' भी सामान्य परिचयात्मक एक अच्छा ग्रन्थ है।

मुनि श्री फूलचन्द्र जी 'श्रमण' का प्रस्तुत पुस्तक 'नय-वाद' जिज्ञासुओ को अनेकान्तवाद मे प्रवेश करने के लिए एक सरल एव सुबोध साधन सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नही हैं। सवाद-शैली मे विषय को सुगम करने का प्रयत्न स्तुत्य है। अहिंसा आदि पच-सवर पर सप्त नयों की अवतारणा किस प्रकार हो सकती है ? यह परिशिष्ट में देकर मुनि श्री ने नयो की विवेचना का विस्तृत क्षेत्र विद्वानो के समक्ष उपस्थित किया है। कही-कही विचारो मे अपरिपक्वता होते हुए भी पुस्तक उपयोगी है।

हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस।
ता० ३–१–५८

— दलसुख, मालवणिया

प्रकाशकीय

सन्मति ज्ञान-पीठ के चमकते-दमकते और जीवन विकास के लिए सत्प्रेरणा देने वाले सुन्दर प्रकाशनो की लडी की एक कडी 'नय-वाद' भी विचार-प्रवण अध्येताओ के कर कमलो मे आ पहुँचा है।

जैन-दर्शन के प्राण अनेकान्त-दृष्टि और स्याद्वाद के गम्भीर एवं विराट् रहस्य को समझाने के लिए 'नय-वाद' आवश्यक ही नही, बल्कि अनिवार्य भी है। प्रस्तुत पुस्तक मे लेखक ने 'नय-वाद' जैसे गुरु गम्भीर विषय को सरल और सुबोध रूप में पाठको के सम्मुख रखकर साहित्य-जगत् की अनुपम सेवा की है।

एक बात—जिसे भूलना भी भूल होगी, वह यह है कि पुस्तक के प्रकाशन में द्रव्य-दान देने वाले व्यक्ति को भुलाया नही जा सकता। लुधियाना जैन समाज के प्रमुख व्यक्ति स्वर्गीय लाला नौहरियामल जी को कौन नही जानता ? सन्तों की सेवा और समाज की सेवा मे आपकी विशेष अभिरुचि थी। तन, मन और धन से आपने सदा धर्म की सेवा की थी।

आपकी धर्मपत्नी धर्मशीला श्रीमती गौरा देवी जी भी सन्त-भक्ति, समाज सेवा और धर्म अभ्युदय मे आप के समान ही सदा अग्रसर रहती हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे श्रीमती गौरा देवी ने एक सहस्र का दान देकर साहित्य की सुन्दर सेवा की है। सन्मति ज्ञान-पीठ आप के इस धर्ममय अर्थ-सहयोग का धन्यवाद करता है।

श्रीमती गौरादेवी जी के तीन पुत्र रत्न हैं—श्री रामप्रसाद जी, श्री गोवर्धनदास जी और श्री केदारनाथ जी। तीनो भाई धर्म-प्रेमी, समाज-सेवी और विनय-विनम्र हैं। मुझे आशा ही नही, पूरा

विश्वास है, कि आप तीनो भाई भी अपने महान् पिता के तुल्य ही सन्त-भक्ति, समाज-सेवा और धर्म-विकास के सत्कार्यों में अभिरुचि लेते रहेंगे।

आशा है, प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन समाज के लिए शुभकर एव हितकर रहेगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में श्री लक्ष्मीनारायन जी यादव ने सुन्दर छपवाने मे उदारता का परिचय दिया है। श्रीयुत बाबूराम जी शर्मा का सहयोग स्मरणीय रहेगा। शर्मा जी के सहयोग के विना पुस्तक इतनी सुन्दर नही बन सकती थी।

मत्री

विजयसिंह दूगड

दिशा-संकेत

दृष्टि-कोण—मानव का स्वस्थ एव व्यापक दृष्टि-कोण ही उसे सत्य की ओर ले जाता है। सत्य—विशाल, व्यापक, अनन्त और अखण्ड होता है। परन्तु सामान्यत: मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप में जान नही पाता। खण्ड रूप मे अथवा अनेक अशो में ही वह वस्तु का परिबोध कर पाता है। सत्य के परिज्ञान के लिए, किंवा ज्ञात सत्य को जीवन के समतल पर उतारने के लिए, व्यापक दृष्टि-कोण की आवश्यकता ही नही, अनिवार्यता भी है।

व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी—जीवन विकास की यह क्रम-पद्धति है। जैन-दर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्त दृष्टि, जैन-धर्म का सर्व सहिष्णु अहिंसा सिद्धान्त, और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद—ये तीनो मिल कर एक ही कार्य करते हैं। और वह यह है, कि व्यष्टि अपनी क्षुद्र सीमा मे कैद न हो जाए, समष्टि व्यक्ति के विकास मार्ग में चट्टान बन कर उसके विकास को अवरुद्ध न करे, अपितु एक-दूसरे से समझौता कर के दोनो परमेष्ठी के रूप में परिणत हो जाएँ, परम ज्योति बन जाएँ।

वस्तु-तत्व—इस शुभकर एव सर्व हितकर विशाल दृष्टि-कोण को जीवन मे ढालने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। चेतन-अचेतन मय इस जगत् की प्रत्येक वस्तु सत् है, शाश्वत है, अनन्त है। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण-धर्मो का अखण्ड पिण्ड है। वह कभी नही रही—यह नही कहा जा सकता। वह कभी नही रहेगी—यह नही कहा जा सकता। वह नही है—यह भी नही कहा जा सकता। कहा यह जाएगा कि—"वह थी, है, और रहेगी।" वृत्त वर्तमान और वर्तिष्यमाण—इन तीनो कालो में कभी भी उसका अभाव नही होता।

हाँ तो, वस्तु सत् है, शाश्वत है, नित्य है—परन्तु कूटस्थ नित्य नही,—परिणामी नित्य है। क्योकि प्रत्येक वस्तु मे प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम, उत्तर पर्याय् का उत्पाद होता रहता है।

अस्तु, द्रव्य-दृष्टि मे वस्तु नित्य है, विगम और उत्पाद की दृष्टि से, अर्थात्—पर्याय-दृष्टि से परिणामी-प्रतिक्षण बदलने वाली भी है। कनक के कगन को तोड कर उसका मुकुट बनवा डाला। हुआ क्या ? आकृति बदल गई, परन्तु उसका कनकत्व नही बदला। वह तो ज्यो का त्यो है। जैसा पहले था, वैसा अब भी। सिद्धान्त यह रहा कि—"द्रव्य नित्य, आकृति पुनरनित्या।"

प्रमाण और नय—अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सम्यग्ज्ञान दो से होता है—प्रमाण से और नय से। अनन्त धर्मात्मक वस्तु तत्व के समग्र धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान-प्रमाण होता है, और उस वस्तु के किसी एक ही धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान, नय कहा जाता है।

'अयघट'—यह ज्ञान प्रमाण है। क्योकि इस मे घट के रूप, रस, स्पर्श और गन्ध तथा कनिष्ठ-ज्येष्ठ आदि समग्र धर्मों का परिबोध हो जाता है। परन्तु जब यह कहा जाता है—'रूपवान् घट' तब केवल घट के अनन्त धर्मो में से 'रूप' का ही परिज्ञान होता है, उसके अन्य धर्म रस, स्पर्श और गन्ध आदि का नही। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के परिज्ञान में अश कल्पना—यही वस्तुत नय है। अत. अशी के किसी एक अश का ज्ञान 'नय' और अनेक अशो का ज्ञान 'प्रमाण' होता है।

नय-वाद—'नय-वाद' वस्तुत जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट और व्यापक विचार-पद्धति है। जैन-दर्शन प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण 'नय' से करता है। जैन-दर्शन में एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नही है, जो नय-शून्य हो। विशेषावश्यक भाष्य में यह तथ्य इस प्रकार है—

"नत्थि नएहि विहूण,
सुत्त अत्थो य जिण-मए किंचि।"

जैन दार्शनिकों के समक्ष एक प्रश्न बड़ा ही जटिल, साथ ही गम्भीर था कि नय क्या-है ? नय प्रमाण है किंवा अप्रमाण ? यदि वह प्रमाण है, तो प्रमाण से भिन्न क्यों ? और यदि वह अप्रमाण है, तो वह मिथ्या ज्ञान होगा। और मिथ्या ज्ञान के लिए विचार जगत् में क्या कहीं स्थान होता है ?

इन प्रश्नों का मौलिक समाधान जैन दार्शनिकों ने बड़ी गम्भीरता और सतर्कता से किया है। वे अपनी तर्क-शैली मे कहते हैं—

"नय न प्रमाण है, और न अप्रमाण। परन्तु प्रमाण का एक अंश है। सिन्धु का एक बिन्दु, न सिन्धु है, और न असिन्धु—अपितु वह सिन्धु का एक अंश है। एक सैनिक को सेना नहीं कह सकते, परन्तु उसे असेना भी तो नहीं कह सकते। क्योंकि वह सेना का एक अंश तो है ही। नय के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।"

प्रमाण का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है, और नय का विषय है, उस वस्तु का एक अंश।

यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश (धर्म) को ग्रहण करता है, तो वह मिथ्या ज्ञान ही रहेगा। फिर उस से वस्तु का यथार्थ बोध कैसे होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर भी जैन दार्शनिकों ने अपनी उसी सत्य-मूलक तर्क शैली पर दिया है—

"नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है, यह सत्य है। परन्तु इतने मात्र से ही वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता। एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंशों का निषेधक हो जाए, तभी वह मिथ्या होगा। किन्तु जो अंश-ज्ञान, अपने से व्यतिरिक्त अंशों का निषेधक न होकर, केवल अपने दृष्टि-कोण को ही व्यक्त करता है, तो वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता।"

हाँ, जो नय अपने स्वीकृत अंश का प्रतिपादन करते हुए यदि अपने से भिन्न दृष्टि-कोण का निषेध करते हैं, तो निस्सन्देह वे नयाभास-किंवा

दुर्नय कहे जाएँगे । परस्पर निरपेक्ष नय दुर्नय हैं, और सापेक्ष सुनय हैं ।

नयो की सख्या—यद्यपि नय अनन्त हैं, क्योकि वस्तु के धर्म अनन्त हैं, फिर भी नयो के मूल मे दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । अभेदगामिनी दृष्टि को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, और भेदगामिनी दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते है । नयो मे नैगमादि तीन द्रव्यार्थिक हैं, और ऋजुसूत्रादि चार पर्यायार्थिक ।

उपसहार—प्रस्तुत 'नय-वाद' पुस्तक में जैन-दर्शन के इसी जीवातु भूत 'नय-तत्व' का विवेचन, विश्लेषण और प्रतिपादन किया गया है । पुस्तक की भाषा और शैली यद्यपि पुरातन है, तथापि विचारो के प्रस्थापन मे प्रामाणिकता से काम लिया गया है । शैली पुरानी होने से कही-कही पर पाठको को कुछ विषय अस्पष्ट-सा लग सकता है । परन्तु यह नि.सन्देह कहा जा सकता है, कि सब मिला कर पाठ्य-सामग्री पाठको को अवश्य ही लाभान्वित करेगी । संस्कृत और प्राकृत मे इस विषय पर पर्वताकार विपुल साहित्य लिखा गया है । परन्तु राष्ट्र-भाषा हिन्दी मे इस विषय की और इस जैसी कोई स्वतत्र पुस्तक अभी तक मेरे देखने मे नही आई ।

मुनिश्री फूलचन्द जी 'श्रमण' मेरे चिर परिचित स्नेही मुनि हैं । वे जहाँ एक विचारक हैं, वहाँ साधक भी हैं । इसलिए वे अपने परिचितो मे 'योग निष्ठ' के नाम से जल्दी पहचाने जाते हैं । मुनिश्री का स्वाध्याय विशाल है, और वे सैद्धान्तिक विषयो पर सतत चिन्तन-मनन करते रहते हैं । उसी प्रशस्त स्वाध्याय श्रम का यह सुन्दर वैचारिक फल 'नय वाद' के रूप मे हमारे हाथो में है । प्रस्तुत कृति को देखते हुए मैं आशा करता हूँ, भविष्य मे श्रमण जी की ओर से सैद्धान्तिक विषय पर इससे भी अधिक गम्भीर अथच स्पष्ट कृति—जिज्ञासुओ की सेवा में प्रस्तुत की जाएगी ।

जैन-भवन, आगरा ।
१ जनवरी, १९५८

उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादकीय

'नय-वाद' के गुरुतम प्रश्न ने मेरी लघुतम सीमा में 'अथ' की भीनासर में और 'इति' की आगरा में। यह 'अथ से इति' तक की कहानी दो साल की हो चुकी है, कुछ पुरानी-सी। परन्तु सब मिला कर यह कहानी अन्तत बडी ही सुखान्त तथा शुभान्त रही।

भीनासर सम्मेलन के मधुर एव शुभावसर पर मेरे प्रिय मित्र श्री फूलचन्द जी 'श्रमण' से कितने ही वर्षों बाद मिलन सम्मेलन हुआ। हम एक-दूसरे को भूल गए हो, यह बात तो नहीं, किन्तु यह सत्य है, कि बहुत दिनो की धूमिल स्मृति ताजा हो उठी। हमे एक-दूसरे के विचार विनिमय से बहुत-सी नयी बातें मिली।

एक दिन बात-चीत के प्रसग में 'श्रमण जी' ने मुझ से कहा—विजय जी, तुम्हे मेरा एक काम करना होगा!' मैने विनम्र भाव से कहा—'बोलिए, क्या आज्ञा है, आपकी!' उन्होने अपनी बात का सिलसिला जोडते हुए कहा—

'सम्यक्-दर्शन' पत्र मे मेरे नय विषयक लेख तो आपने पढे होगे?' मैंने कहा—जी हाँ, देखे तो हैं। उन्होने सकोच की भाषा में कहा—उन लेखो का सम्पादन एव प्रकाशन व्यवस्थित नही हो पाया है। अत मैं चाहता हूँ कि आप उनका सुन्दर पद्धति से सम्पादन कर दें।

मेरे इन्कार करते रहने पर भी उन्होने अपनी बात का आग्रह रखा। मैंने इस कार्य के लिए अपने अन्य स्नेही साथियो की योग्यता की ओर स्पष्ट सकेत भी किया, परन्तु श्रमण जी अपने आग्रह पर अडोल रहे। अन्तत यह कार्य मुझे लेना ही पडा।

कुचेरा के वर्षा-वास मे पूज्य गुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक न रहने से मुझे सम्पादन का अवकाश नही मिल सका। अत यह कार्य आगरा

में प्रारम्भ किया, और मुझे प्रसन्नता है कि उसे मैं यथा शक्ति पूर्ण कर सका हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा तथा शैली के सम्बन्ध मे मैंने यहाँ से लेखक मुनि जी से पूछा था कि—क्या इसको नया रूप दे दिया जावे ? परन्तु यह बात स्वीकृत न हो सकी। फलतः उन्ही की भाषा में और बहुत कुछ उन्ही की शैली में आवश्यक फेर-बदल के साथ पुस्तक को सजा दिया गया है। यद्यपि उनके भावो मे किसी भी प्रकार का अन्तर नही डाला गया है, फिर भी सहृदय पाठक यदि कभी "सम्यक्-दर्शन" मे पूर्व प्रकाशित लेखो के साथ इस पुस्तक की तुलना करेंगे, तो उन्हे अवश्य ही कुछ आवश्यक अन्तर दीख पडेगा। पुस्तक के प्रकाशन में, श्री अखिलेश मुनि जी महाराज का दिशा-दर्शन भी मेरे कार्य को सुन्दर बनाने मे सहयोगी रहा है।

पुस्तक के सम्बन्ध मे मैं क्या कहूँ, और कैसे कहूँ ? इसका निर्णय मैं विज्ञ पाठको पर ही छोडता हूँ। हाँ इतना कहने की अभिलाषा अवश्य रखता हूँ कि लेखक मुनि जी अपने प्रतिपाद्य विषय के विज्ञ अध्येता हैं। उन्होने इस दिशा में काफी गहराई तक अभ्यास किया है। वस्तुतः उनका श्रम प्रशसनीय है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अपने ढग की हिन्दी में यह प्रथम कृति है।

अस्तु, यदि पाठक प्रस्तुत पुस्तक को मनोयोग से पढेंगे, तो उनके ज्ञान की अभिवृद्धि होगी, और लेखक मुनि जी का श्रम भी सफल होगा।

जैन-भवन
लोहामडी, आगरा
१ जनवरी १९५८

विजय मुनि

कहाँ क्या है ?

विषय	पृष्ठ संख्या

परिशिष्ट

इति विविध-भङ्ग-गहने,
सुदुस्तरे मार्ग-मूढ-दृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं;
प्रबुद्ध नय-चक्र सञ्चारा:॥

— आचार्य अमृतचन्द्र

"अत्यन्त विकट और विविध भग जालो से घनीभूत नय-चक्र वन मे, राह भूले मनुष्यो को सन्मार्ग बताने वाले वे सद्गुरु ही शरण-भूत हो सकते है, जो नय-चक्र के पारगत विद्वान् है।"

न य वा द

उपक्रम

जेण विणा लोगस्स वि,
ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो ;
णमो अणेगंत-वायस्स ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात् तदयुक्तं स्व-घाततः ॥

— आचार्य समन्त भद्र

आपकी अनेकान्त-दृष्टि सच्ची है, इसके विपरीत जो एकान्त मत है, वह शून्य है; अर्थात्—असत् है । अत जो कथन अनेकान्त दृष्टि से रहित है, वह सब मिथ्या है , क्योकि वह अपना ही घातक है ।

: १ :

उपक्रम

भारतीय-सस्कृति मे, वसन्त-समय को मधु-मास कहा गया है। वसन्त-समय सुन्दर,सुरभित और सरस होता है। जिस समय प्रकृति के प्रागण मे वसन्त समवतरित होता है, उस समय सर्वत्र नया जीवन, नयी चेतना और नया जागरण प्रादुर्भूत हो जाता है। प्रकृति के कण-कण मे आनन्द, हर्ष और उल्लास प्रकट होने लगता है। अणु से महान् और महान् से अणु समस्त प्रकृति-जगत् अभिनव सौन्दर्य एव अद्भुत माधुर्य से भर जाता है। मधु-मास, अर्थात् वसन्त आनन्द का प्रतीक माना गया है।

सुरभित वसन्त का सुन्दर समय था। जगती-तल पर चारो ओर हरियाली का प्रसार था। तरु और लताएं पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होकर आनन्द मे झूम रहे थे। अभिनव किसलयो के सौन्दर्य से, सुमनो के सौरभ से और फलो के मधुर रस से तरु और लताएँ मानो, जन-सेवा करने का सौभाग्य सचित कर रही थी।

वसन्त-काल का सुरभित मधु-मास पथिक-जनो के श्रम को अपने अद्‌भुत सौन्दर्य से, मलय-पवन के शीतल एव मन्द झकोरो से और सुमनो की सुरभि से दूर कर रहा था।

सहकार-तरुओ पर नाचती-कूदती कोकिले अपनी माधुर्य-पूर्ण स्वर-लहरी से सम्पूर्ण वन-प्रान्त को मुखरित कर रही थी। कोकिल का मधुर कूजन वसन्त के अस्तित्व का जय-घोप कर रहा था।

कल-कल करती सरिताएँ अपनी शीतल एव निर्मल जल धारा से आतप-तापित शुष्क भूमि को सस्य-श्यामला बनाने के हर्ष मे, अपनी मस्ती मे झूमती वही चली जा रही थी। मानो, वे 'सरिता पति' से मिलने के लिए उतावली होकर भागी चली जा रही हो?

वागवान अपने वाग को सँवारने-सजाने मे मस्त था, और किसान अपने खेतो मे आशा-भरे हृदयो से व्यस्त थे। किसान अपने खेत के हर दाने मे अपना आशा पूर्ण भविष्य निरख रहा था, बागवान को अपने वाग के हर पौधे मे भविष्य की सुनहरी आशा दीख रही थी।

मधु-मास के सुरभित इस वन-प्रान्त के एक भाग मे, हरे-भरे घटादार वृक्ष की सघन छाया मे एक निर्ग्रन्थ योगीराज तपस्वी अपनी ध्यान-मुद्रा मे सलीन था। एकान्त मे मानो वह वाह्य-सृष्टि के सौन्दर्य से भी अति महान् अन्त - सौन्दर्य का दर्शन कर रहा हो?

सध्या का स्वर्णिम-सूर्य अपनी सुवर्णमयी किरणों को तरु शिखरो पर विखेरता हुआ, अस्ताचल की ओर तेज गति

से बढ़ रहा था। खग-कुलो के मधुर कूजन से सम्पूर्ण वन-प्रान्त मुखरित और प्रतिध्वनित हो उठा।

गुरु-कुल का प्रधान अध्यापक अपने सुयोग्य छात्रो के साथ ताजा पवन सेवन के लिए वन-प्रान्त के किसी भाग मे निर्मित 'देव-रमरण' उद्यान मे जा पहुँचा। कतिपय छात्र पहले ही वहाँ जमे बैठे थे, अपनी पाठ्य-पुस्तको का अध्ययन, मनन और चिन्तन कर रहे थे। परिशीलन के लिए एकान्त स्थल अत्यन्त उपयुक्त होता है।

'देव-रमरण' उद्यान में इधर-उधर बिछे शिला-पट्टो पर छात्र और उनका अध्यापक भी यथास्थान बैठ गए थे। बात-चीत के प्रसग मे चर्चा चल पडी, कि वस्तु का सम्यग् ज्ञान कैसे होता है ? किसी भी वस्तु का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्या-क्या साधन अपेक्षित है ? बुद्धिमान् मनुष्य जब किसी विषय पर चर्चा-वार्ता करते हैं, तब कोई न कोई तथ्य अवश्य ही निकलता है।

एक छात्र, जो असाधारण बुद्धिमान् था। बोला—"प्रमाण और नय से वस्तु का सम्यग् ज्ञान होता है। वस्तु कही पर भी, किसी भी प्रकार की क्यो न हो, उसका परिज्ञान प्रमाण और नय से ही हो सकता है। विना प्रमाण और नय के किसी भी वस्तु का परिज्ञान सम्भव नही है।"

दूसरे छात्र ने बीच मे ही प्रतिप्रश्न करते हुए कहा—"प्रमाण और नय मे क्या भेद है ? प्रमाण और नय का क्या लक्षण है ?

प्रथम छात्र ने समाधान करते हुए कहा—"प्रमाण और नय दोनो ज्ञान ही है। फिर भी दोनो मे कुछ भेद अवश्य है।" वह इस प्रकार है—

"जो ज्ञान वस्तु के अनेक या सर्व अशो को ग्रहण करता है, वह प्रमाण है, और जो ज्ञान वस्तु के किसी एक अश को ग्रहण करता है, वह नय है।"

धीरे-धीरे चर्चा का मोड नय-स्वरूप पर आ लगा। नय कितने हैं ? और उनके लक्षण क्या हैं ?

नय-स्वरूप

नत्थि नएहिं विहुणं,
सुत्त अत्थो य जिण-मए किंचि ।

—विशेषावश्यक भाष्य

नयास्तव स्यात्-पदलाञ्छना इमे,
रसोपविद्धा इव लोह-धातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो ;
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

"जिस प्रकार स्वर्ण-रस के संयोग से लोह धातु (स्वर्ण बनकर) अभीष्ट फल देने वाले बन जाते है, उसी प्रकार आपके नय भी 'स्यात्' शब्द लगने पर अभीष्ट फल देने वाले हो जाते हैं। अत अपना हित चाहने वाले भक्त-जन आप को सभक्ति नमस्कार करते है।"

: २ :

नय-स्वरूप

प्रथम छात्र

पहला छात्र विनीत स्वर मे बोला—प्रिय साथियो ! यद्यपि नय का विषय अत्यन्त विस्तृत और साथ ही अत्यन्त गम्भीर भी है, तथापि इस विषय पर मै अपना विचार व्यक्त करता हूँ। मेरे विचार मे नय का स्वरूप यह है—

"जिसके द्वारा अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के किसी एक पर्याय का निश्चय किया जाए, वह नय है।"—१

द्वितीय छात्र

दूसरा छात्र बोला—आपने कहा वह भी ठीक है, परन्तु नय का यह लक्षण भी हो सकता है—

"वस्तु-तत्त्व के ज्ञाता का अभिप्राय-विशेष नय कहा जाता है।"—२

१—"नीयते, परिच्छिद्यते, अनेन इति नय ।" —नय-रहस्य

२—"ज्ञातुरभिप्रायो नय ।" —आलाप-पद्धति

की विशेष रुचि देखकर मुझे भी कुछ कहने का उत्साह उत्पन्न हुआ है। व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'नय' शब्द कैसे बना है ? और उसके कितने अर्थ होते है ? इस पर मै अपने विचार व्यक्त कर रहा हूँ।"

नय—

'नय' शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से कृदन्त का 'अच्' प्रत्यय लगने पर सिद्ध होता है। 'नय' शब्द के मुख्य रूप से इतने अर्थ होते है—नीति, गति, विधि और मार्ग आदि।

नीति—

जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को विकास की ओर ले जाए, अभ्युदय की ओर अग्रसर करे, वह नय या नीति कही जाती है। नीति दो प्रकार की होती है—राज-नीति और धर्म-नीति। राजनीति का अन्तर्भाव साम, दाम, दण्ड और भेद मे हो जाता है। धर्म-नीति का अन्तर्भाव सात नयो मे होता है।

गति—

स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। सामान्य से विशेष की ओर जाना। साधक से सिद्ध की ओर जाना। देह से विदेह की ओर जाना।

विधि—

प्रकार या तरीका। सिद्धान्त और सिद्धान्ताभास परखने की पद्धति।

मार्ग—

विचार करने के प्रकार, दृष्टि-कोण। जैसे—उद्यान मे जाने के अनेक मार्ग होते हैं, कोई पूर्व से जाता है, कोई उत्तर से, कोई पश्चिम से और कोई दक्षिण से। किन्तु अन्दर जाकर वे सब मार्ग परस्पर मिल जाते हैं, इसी प्रकार एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टि-कोण हो सकते है। परन्तु उनका समन्वय भी हो जाता है। इस समन्वय सिद्धान्त को स्याद्वाद अथवा कथचिद्वाद कहते हैं। समन्वय-मार्ग को नय-मार्ग भी कहा जाता है।

स्याद्वाद एव नय-वाद से ही विभिन्न मतो का, विभिन्न विचारो का समन्वय किया जा सकता है। जो नय एक-दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी है, वे स्वपरोपकारी सुनय कहे जाते है, और जो परस्पर एक-दूसरे का विरोध करते हैं, वे प्रतिद्वन्द्वी है, वे स्वपर-प्रणाशी दुर्नय कहे जाते हैं। १

१—य एव नित्य-क्षणिकादयो नया,
मिथोऽनपेक्षा· स्व-पर-प्रणाशिन।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुने,
परस्परेक्षा स्व-परोपकारिण॥

—आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू-स्तोत्र

जीवन की आचार-शुद्धि है,
निर्भर सदा विचार-शुद्धि पर ।
और विचार-शुद्धि की गति भी,
आधारित है नय की मति पर ॥

— उपाध्याय अमर मुनि

प्रमाण और नय

प्रमाण-नयैरधिगमः

— तत्त्वार्थ सूत्र, १-६

अनेकान्तात्मकं वस्तु, गोचरः सर्व-संविदाम् ।
एकदेश-विशिष्टोऽर्थो, नयस्य विषयो मतः ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

"अनेक-धर्मो से विशिष्ट वस्तु, प्रमाण-स्वरूप ज्ञान का विषय है, और किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु, नय का विषय माना जाता है।"

: ३ :

प्रमाण और नय

प्रश्न—क्या प्रमाण और नय परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, अथवा सर्वथा अभिन्न है ?

(अ) यदि सर्वथा अभिन्न है, तो प्रमाण कौन-से ज्ञान का विषय है, और नय कौन-से ज्ञान का ?

(ब) यदि सर्वथा अभिन्न है, तो प्रमाण से ही कार्य-सिद्धि हो सकती है, नय की आवश्यकता ही क्या ?

(स) यदि दोनो एक ही अर्थ के वाचक हैं, तो प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान— चार प्रकार का होता है। और नय सात प्रकार का होता है। फिर दोनो एक-दूसरे के पर्याय-वाचक कैसे हो सकते है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्न की समस्या का समुचित समाधान स्याद्वाद के द्वारा हो सकता है। अर्थात्—सप्त-भगी के तीसरे भग से उक्त समस्या सुलझाई जा सकती है। तीसरा भग है—कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न। जैसे कि शास्त्रा-

...ाओ

अनेका...

एकते...

...पक है,

...नही है, वल्कि

...का सम्बन्ध पाँच प्रकार

...सम्बन्ध केवल श्रुत-ज्ञान से ही

...ात्—पाँचो ज्ञानो को प्रमाण कहते है,

...ान रूप प्रमाण का अश-विशेष है ।
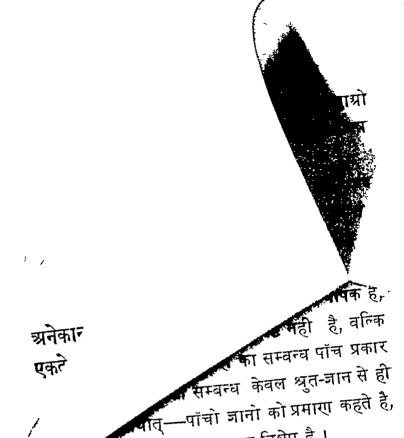
नय, प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नही है । अभिन्न ...नही है, क्योकि प्रमाण का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया जाए, अर्थात्—सर्वांग-ग्राही वाध को प्रमाण कहते है ।

नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त-धर्मो मे से किसी विवक्षित एक धर्म का निश्चय किया जाए, अर्थात्—अनेक दृष्टि-कोण से परिष्कृत वस्तु-तत्त्व के एकाश-ग्राही ज्ञान को नय कहते है ।

अत नय, प्रमाण से सर्वथा अभिन्न भी नही है ।

प्रमाण नय का वाचक नही है, तथैव नय भी प्रमाण का वाचक नही है । जैसे समुद्र के पर्याय-वाचक नाम और

है, तथा तरगो के पर्याय-वाचक नाम और है । तरगे समुद्र से भिन्न नही है, और समुद्र भी तरगो से भिन्न नही है, तथैव अभिन्न भी नही कह सकते । क्योकि समुद्र के तथा तरगो के नाम भिन्न-भिन्न है, इससे सिद्ध होता है, कि समुद्र और तरंगे अभिन्न नही है ।

समुद्र और तरग के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है, कि 'प्रमाण' और 'नय' का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? नय न तो प्रमाण है, और न अप्रमाण, अपितु प्रमाण का एक अश है, जैसे कि तरग न समुद्र है, न असमुद्र है, अपितु समुद्र का एक अश है ।—१

१—न समुद्रोऽसमुद्रो वा, समुद्राशो यथोच्यते ।
नाऽप्रमाण प्रमाण वा, प्रमाणाशस्तथा नयः ॥ ६ ॥
— नयोपदेश

प्रमाण

वस्तु-तत्त्व का रूप सर्वत
जिससे होता है परिलक्षित।
वह प्रमाण है ज्ञान सिन्धु-सम,
दर्शन-जग मे सदा समर्चित ॥

नय

वस्तु-तत्त्व यदि एक अश से,
होता चिन्तन मे प्रतिभासित।
वह चिति-अश नीति-पथ नय है,
जिन-शासन मे परस्परेक्षित।

— उपाध्याय अमर मुनि

पर्याय-स्वरूप

वस्तु-मात्र में सतत यथाक्रम,
जो होता है परिवर्त्तन ।
कहते हैं पर्याय उसी को,
वस्तु-तत्त्व-मर्मज्ञ सुज्ञ जन ॥

— उपाध्याय, अमर मुनि

तद्भावः परिणामः

— तत्त्वार्थ, ५-४१,

उसका होना, अर्थात्—स्वरूप मे स्थित रहकर, उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है, अर्थात्—पर्याय है।

: ४ :

पर्याय-स्वरूप

प्रश्न—एक ही वस्तु अनन्त-धर्मात्मक कैसे हो सकती है ?

उत्तर—अनन्त-पर्यायो के समुदाय का नाम ही वस्तु है। पर्याय को धर्म भी कहते है। पर्याय दो प्रकार की होती है—एक सह-भावी और दूसरी क्रम-भावी।

रूप, रस आदि पर्याय सह-भावी कहलाती है, और नूतन-पुरातन आदि पर्याय क्रम-भावी कहलाती है। सह-भावी पर्याय गुणो की होती है, तथा क्रम-भावी पर्याय द्रव्य की होती है। अथवा—

पर्याय दो प्रकार की होती है—एक स्वभाव-पर्याय, और दूसरी विभाव पर्याय। अथवा—

समस्त पदार्थो की पर्याय दो प्रकार की होती है—पहली शब्द-पर्याय, और दूसरी अर्थ-पर्याय।

शब्द-पर्याय अनन्त है, उनका अन्तर्भाव केवल श्रुत-ज्ञान मे ही हो सकता है—अन्य मे नही।

अर्थ-पर्याय अनन्तानन्त है, क्योकि अर्थ-पर्याय का
अन्तर्भाव पाँचो ही ज्ञान मे हो जाता है। इस दृष्टि से
शब्द-पर्याय की अपेक्षा से अर्थ-पर्याय अनन्त-गुण अधिक है।
शब्द-पर्याय के आगे चलकर दो भेद हो जाते है, जैसे—
कि स्व-पर्याय और पर-पर्याय। शत-क्रतु, इन्द्र, पाक-शासन,
ये स्व-पर्याय है। सौधर्माधिपति, शचि-पति ये पर-पर्याय है।
जल, वारि, तोय, पानीय—ये स्व-पर्याय है। स्वर्ण घट का पानी,
घडे का पानी, झज्झर का पानी-ये सब पर-पर्याय है। आगे
चलकर फिर अतीत, वर्त्तमान, और भविष्यत्, एक-एक पर्याय
के साथ लगाने से पुन एक-एक के तीन भेद बन जाते है। इस
प्रकार शब्द-पर्याय की उत्तरोत्तर अनन्त पर्याय बन जाती है।
अर्थ-पर्याय को भी उपर्युक्त शैली से समझ लेना। अत
कहा जाता है कि वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। किसी विवक्षित
एक पर्याय को अनेक दृष्टि-कोणो मे जो देखा जाए, और
जाना जाए, उसे ही नय कहते है।

स्याद्वाद

आदीपमाव्योम सम-स्वभावं,
स्याद्वाद-मुद्रानतिभेदि वस्तु ।

— आचार्य हेमचन्द्र

सर्वमस्ति स्वरूपेण,
पर-रूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्व-सत्त्वं स्यात्,
स्वरूपस्याप्यसम्भवः ॥

— प्रमाण-मीमांसा

"प्रत्येक वस्तु, स्वरूप से विद्यमान है, और पर-स्वरूप से अविद्यमान है। यदि वस्तु को पर-स्वरूप से भी भावरूप स्वीकार किया जाए, तो एक वस्तु के सद्भाव मे सम्पूर्ण वस्तुओ का सद्भाव माना जाना चाहिए, और यदि वस्तु को स्वरूप से भी अभाव रूप माना जाए, तो वस्तु को सर्वथा स्वभाव-रहित मानना चाहिए, जो कि वस्तु-स्वरूप से सर्वथा विपरीत है।"

: ५ :

स्याद्वाद

जैन-दर्शन को चिन्तन-धारा मे स्याद्वाद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह वह सर्वमान्य सिद्धान्त है, जिसके द्वारा विश्व-शान्ति स्थापित की जा सकती है। धार्मिक अन्ध-विश्वास तथा रूढिवाद की थोथी बक-झक को स्याद्वाद ही दूर कर सकता है। स्याद्वाद का उपयोग दर्शन और दैनिक-व्यवहार दोनो मे किया जा सकता है। वस्तु-परीक्षण के इस उदार एव विशाल सिद्धान्त को यदि व्यावहारिक जीवन का अनिवार्य अग बना लिया जाए, और मन-वचन-कर्म की एक रूपता के नैतिक पथ पर प्रतिष्ठित कर लिया जाए, तो निश्चय ही हम एक दिन विपम सघर्ष-मूलक परिस्थितियो के प्रतिगामी प्रतिवन्ध को तोडकर अमर-सत्य प्राप्त कर सकेगे।

स्याद्वाद जैन-दर्शन की अद्वितीय आधार-शिला है। जैन-दर्शन का भव्य-भवन इसी पर निर्मित है। इसी के आधार पर जैनो ने विश्व को शान्ति का शुभ सन्देश सुनाया था। धार्मिक असहिष्णुता और मानसिक सकीर्णता जैसे अमानवीय विषाक्त मानसिक विकारो का समूल उन्मूलन करने

वाला स्याद्वाद ही है। परस्पर-स्नेह एव सद्भाव से रहने का सुन्दर पाठ मानव-समाज को स्याद्वाद ने ही पढाया है। अपनी विशिष्टता स्थापित करने के निमित्त स्याद्वाद किसी भी धर्म या सिद्धान्त का खण्डन नही करता, किन्तु अपने औचित्य के अनुरूप भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण का समन्वय एव एकीकरण करता है ।

अस्तु, स्याद्वाद क्या है ? उसकी मौलिक परिभाषा क्या है ? उसकी उपयोगिता जीवन-व्यापार के लिए किस रूप मे है ? इन सभी प्रश्नो पर हमे यहाँ सक्षेप मे विचार करना होगा ।

परिभाषा—

स्याद्वाद का अर्थ है, विभिन्न दृष्टि-कोणो का विना किसी पक्ष-पात के तटस्थ-बुद्धि से समन्वय करना। जो महत्त्व पूर्ण कार्य एक न्यायाधीश का होता है, ठीक वही कार्य विभिन्न विचारो के समन्वय के लिए स्याद्वाद का है। जिस प्रकार एक जज, वादी और प्रतिवादी दोनो पक्षो के बयान सुनकर, दोनो के बयानो की जाँच-पडताल करके निष्पक्ष फैसला देता है, उसी प्रकार स्याद्वाद भी दो विभिन्न विचारो को सुनकर उनमे समन्वय कराता है। यह तो हुआ स्याद्वाद का मौलिक अर्थ। अब शाब्दिक अर्थ भी सुन लीजिए।

"स्याद्वाद' इसमे दो शब्दो का सयुक्तीकरण है— 'स्यात्' और 'वाद'। 'स्यात्' का अर्थ है—अपेक्षा या दृष्टि-कोण, और 'वाद' का अर्थ है—सिद्धान्त या मन्तव्य। दोनो

शब्दो का समुदित अर्थ होगा "सापेक्ष सिद्धान्त", अर्थात्–वह सिद्धान्त जो अपेक्षा को लेकर चलता है, और भिन्न-भिन्न विचारो का एकीकरण करता है। अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथचिद्वाद और स्याद्वाद इन सब का एक ही अर्थ है। अनेकान्त और स्याद्वाद मे थोडा-सा अन्तर अवश्य है। और वह अन्तर केवल इतना ही है कि–अनेकान्त एक व्यापक विचार-पद्धति है, और स्याद्वाद उस को अभिव्यक्त करने की एक निर्दोष भाषा-पद्धति है।

स्याद्वाद-रहस्यविद् आचार्यो ने स्याद्वाद की परिभाषा इन शब्दो मे की है—"अपने अथवा दूसरे के विचारो, मन्तव्यो, वचनो तथा कार्यो मे तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टि-कोण का ध्यान रखना ही "स्याद्वाद" है। इस परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते है –

'जिस प्रकार ग्वालिन मथन करने की रस्सी के दो छोरो मे से कभी एक को और कभी दूसरे को खीचती है, उसी प्रकार अनेकान्त-पद्धति भी कभी वस्तु के एक धर्म को मुख्यता देती है, और कभी दूसरे धर्म को।"—१

देखिए, आचार्य ने किस भावमयी एव कवित्वमयी भाषा मे स्याद्वाद की परिभाषा की है? सुनकर हृदय गद्गद् हो जाता है, और पाठक आचार्य के स्वर मे स्वर मिलाकर उल्लास-पूर्ण स्वर मे उद्घोष करता है –

१—"एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु-तत्त्वमितरेण,
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी।
—पुरुषार्थ सिद्ध युपाय

"जयति जैनी नीति' अर्थात्—'जिन-भगवान्' द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त-नीति अर्थात्—स्याद्वाद-सिद्धान्त सदा जयवन्त हो।"

स्याद्वाद की दार्शनिक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है–

"प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मक-वस्तु-प्रतिपादक श्रुत-स्कन्धात्मक स्याद्वाद"—१

उपयोगिता—

वस्तु के वास्तविक तथा व्यावहारिक स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वाद का उपयोग परमावश्यक है। स्याद्वाद के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक निर्णय नही हो सकता। यदि हम किसी वस्तु के एक ही धर्म को पकड ले, और अन्य धर्मों की ओर ध्यान न दे, तो हम निश्चय ही लोक-व्यवहार मे असफल रहेगे।

मान लीजिए—हम अपने पिता को पिता कहते है, क्योंकि वह हमारा जनक है। इसमे हम कोई भूल नहीं करते। पर, क्या हमारा पिता सम्पूर्ण ससार का पिता हो सकता है? कहना होगा, नही। क्योकि हमारा पिता तो हमारी अपनी अपेक्षा ही मे पिता है, किसी दूसरे की अपेक्षा से नही। हमारी व्यक्तिगत अपेक्षा के अतिरिक्त किसी दूसरे की अपेक्षा से वह मामा भी है, किसी तीसरे की अपेक्षा से वह भाई तथा पुत्र भी हो सकता है। फिर हम यह कैसे कह

१—अष्ट-सहस्री।

सकते है, कि—"यह व्यक्ति पिता ही है।" ऐसा कहना और मानना भारी भूल है। अस्तु, यही एकान्त-वाद है, जिससे ससार मे कलह और वैमनस्य का प्रसार होता है। यदि हम 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करना सीख ले, तो कलह एव वैमनस्य की आशका ही न रहे। 'भी' का प्रयोग करते हुए हम कहेगे कि—"यह 'पिता' भी है।" यही अपेक्षा-वाद है, इसी को हम अनेकान्त-वाद कहते है।

इस सम्बन्ध मे अनेक स्याद्वाद-विद् विद्वानो का ऐसा कथन है, कि मानव-जीवन को सफल एव शान्तिमय बनाने के लिए जीवन मे स्याद्वाद का उपयोग करना आवश्यक तथा अनिवार्य है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय अशान्ति का मूल कारण 'ही' के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। इस आग्रह और अपनेपन के भाव को मन-मस्तिष्क मे स्थान न देना ही स्याद्वाद है। यदि मानव-समाज आज स्याद्वाद की व्यापक एव उदार-दृष्टि से विचार करना सीख जाए, तो निश्चय ही हम अपने जीवन को सरस, सुन्दर तथा उदात्त बना सकते हैं।

केवल विचारो की विशद व्याख्याओ और ग्रन्थो के अध्यायो मे लिखे सिद्धान्तों के शाब्दिक उपचार से ससार का या मानव-जीवन का कल्याण नही हो सकता। मान लीजिए—आपको भूख लगी, तो क्या भोजन का नाम लेने मात्र से क्षुधा शान्त हो जाएगी! नही, हमे तदनुकूल अन्य उपाय भी प्रयोग मे लाने होगे। सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-दर्शन के होने पर भी मुक्ति नही हो सकती जब तक कि हम

तथा कथित ज्ञान और दर्शन के अनुरूप आचरण नही करेंगे।

रत्न-त्रयात्मक मुक्ति-मार्ग का यही आशय है, कि यथार्थ विचारो को जीवन-व्यापार मे व्यावहारिक रूप देकर उनका यथावसर यथोचित उपयोग किया जाए। इसी प्रकार यदि स्याद्वाद को क्रियात्मक रूप मे अपना ले, तो गच्छ-वाद एव सम्प्रदाय-वाद जैसी सकीर्णताओ का नाम भी न रहे, और हम सब एक-तन और एक-मन होकर विश्व-बन्धुत्व का सफल अभिनय कर सकते है।

सप्त-भङ्गी

एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन,
विधि-प्रतिषेध-कल्पना सप्त-भङ्गी ।

— सप्त-भङ्गी-तरंगिणी

अवरोप्पर-सावेक्खं णय-विसयं अह पमाण-विसयं वा ।
तं सावेक्खं तत्तं णिरवेक्खं ताण विवरीयं ।।

— नय-चक्र

"वस्तु-गत धर्म भले ही नय-विषयक हो, भले ही प्रमाण-विषयक हो, परन्तु वे परस्पर सापेक्ष ही होते हैं। सापेक्षता तत्त्व है, और निरपेक्षता अतत्त्व।"

: ६ :

सप्त-भङ्गी

जैन-दर्शन मे जितना महत्त्व स्याद्वाद का माना गया है, और बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैसा उपयोग स्याद्वाद का किया जाता है, उतना ही महत्त्व और उपयोग सप्त-भङ्गी का भी माना गया है। 'सप्त-भङ्गी' एक वह महान् सिद्धान्त है, जो वस्तु के धर्म पर अवलम्बित रहता है। सप्त-भङ्गी-वाद, नय-वाद और प्रमाण-वाद ये सब स्याद्वाद रूपी दुर्ग के सरक्षक है। स्याद्वाद रूपी दुर्ग पर अधिकार करने के लिए यह अनिवार्यत आवश्यक है, कि अधिकार की कामना करने वाला सर्व प्रथम इन तीन प्रवेश-द्वारो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले।

अस्तु, किसी प्रश्न के उत्तर मे या तो हम 'हाँ' बोलते हैं, या 'नही'। इसी 'हाँ' और 'नही' के औचित्य को लेकर सप्त-भङ्गी-वाद की रचना हुई है। सप्त-भङ्गी का सामान्य अर्थ है—वचन के सात प्रकारो का एक समुदाय। किसी भी

पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्व को ध्यान मे रखते हुए सात प्रकार से वचनो का प्रयोग किया जा सकता है। वे सात वचन इस प्रकार है —

१—है,
२—नही,
३—है और नही,
४—कहा नही जा सकता,
५—है, परन्तु कहा नही जा सकता,
६—नही है, परन्तु कहा नही जा सकता,
७—है, और नही, किन्तु कहा नही जा सकता।

शास्त्रीय एवं दार्शनिक परिभाषा—

"प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्त-भङ्गी।"

अर्थात्—प्रश्न के अनुसार एक ही वस्तु मे विरोध रहित विधि और प्रतिषेध की कल्पना को सप्त-भङ्गी कहते है। किसी भी पदार्थ एव वस्तु के विषय मे सात प्रकार के प्रश्न हो सकते है। इसीलिए सप्त-भङ्गी कही गई है। सात प्रकार के प्रश्नो का कारण है—सात प्रकार की जिज्ञासा और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है—सात प्रकार के सशय, तथा सात प्रकार के सशयो का कारण है—उसके विषय रूप वस्तु के धर्मो का सात प्रकार से होना।

अस्तु, इस परिभाषा या लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्त-भङ्गी के सात 'भङ्ग' केवल शाब्दिक कल्पना ही

नही है, अपितु वस्तु के धर्म-विशेष पर आश्रित है। इसलिए सप्त-भङ्गी का अध्ययन, मनन और चिन्तन करते समय इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है, कि उसके प्रत्येक भङ्ग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सम्बद्ध हो। यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना आवश्यक हो, तो उसे इस प्रकार दिखलाना चाहिए, जिससे कि उन धर्मो का स्थान उस वस्तु मे से विलुप्त न हो जाए।

मान लीजिए, आप घट मे नित्यत्व का स्वरूप दिखलाना चाहते है, तो आपको घट के नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसा उपयुक्त शब्द प्रयोग करना होगा, जो घट मे रहने वाले नित्यत्व धर्म का बोध तो कराए, किन्तु अन्य अनित्यत्व आदि धर्मों का विरोध न करे। यह कार्य सप्त-भङ्गी के द्वारा ही हो सकता है।

यथा—'स्याद् नित्य एव घट' अथवा 'स्याद् अनित्य एव घट' अर्थात्—घट 'नित्य' भी है और 'अनित्य' भी। द्रव्य-दृष्टि से नित्य है, और पर्याय-दृष्टि से 'अनित्य'।

अस्तु, अब इसी उदाहरणीभूत घट पर सप्त-भङ्गी की वचन-प्रयोग शैली इस प्रकार होगी।

१—स्याद् नित्य एव घट,
२—स्याद् अनित्य एव घट,
३—स्याद् नित्यानित्य एव घट,
४—स्याद् अवक्तव्य एव घट,
५—स्याद् नित्य अवक्तव्य एव घट,

६—स्याद् अनित्य अवक्तव्य एव घट ,

७—स्याद् नित्य अनित्य अवक्तव्य एव घट ,

किसी भी पदार्थ के विषय मे उपर्युक्त सात प्रकार से ही प्रश्न हो सकते है, अत. आठवाँ, नवा या दशवाँ भग नही बन सकता। इसीलिए "सप्त-भगी" मे सप्त-पद बिल्कुल सार्थक एव अवधारणात्मक है। अर्थात्—सात ही भग है, कम या अधिक नही। उक्त सात वचन प्रयोगो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१—घट द्रव्य अपेक्षा से नित्य है।

२—घट पर्याय अपेक्षा से अनित्य है ।

३—घट क्रम विवक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी।

४—घट अवक्तव्य है, अर्थात् युगपद्-विवक्षा से अवक्तव्य भी है। उपर्युक्त चार वचन प्रयोगो पर से पिछले तीन वचन और वनाये जाते है।

५—द्रव्य अपेक्षा से घट 'नित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

६—पर्याय अपेक्षा से घट 'अनित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

७—द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से घट क्रमश 'नित्य' और 'अनित्य' होने के साथ-साथ युगपद् विवक्षा मे अवक्तव्य है। पिछले तीन वचन-प्रयोग, अवक्तव्य रूप चतुर्थ भ[ग] के साथ पहला, दूसरा और तीसरा मिलाने से बनते है[।] अतः वास्तव में मुख्य-रूप मे तीन या चार ही भग है।

वस्तुत शब्द की प्रवृत्ति प्रवक्ता के भावो पर आधारित होती है। अर्थात्— प्रत्येक वस्तु मे अनेक (अनन्त) धर्म होते है, विभिन्न प्रवक्ता अपने-अपने दृष्टिकोण से उनका उल्लेख करते हैं।

मान लीजिए, दो मनुष्य है। दोनो बाजार मे कुछ सौदा खरीदने गए हैं। किसी दुकान पर दोनो पहुँचे और उन्होने अनेक वस्तुएँ देखी। अपनी पसन्द के अनुसार एक किसी वस्तु को अच्छी बतला रहा है, और दूसरा उसी को बुरी बतला रहा है। दोनो मे विवाद खडा हो जाता है। इधर से कोई तटस्थ पथिक भी चला जा रहा है। उसने दोनो को झगडते देखा, और पूछा—'क्यो भाई, तुम परस्पर क्यो झगड रहे हो ?' दोनो अपनी-अपनी बात कह देते है। समझदार पथिक दोनो की बात सुनकर उनको समझाता है कि देखो—विवादास्पद वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। जो वस्तु तुम्हारी दृष्टि मे अच्छी है, वह इनकी दृष्टि मे बुरी हो सकती है, और इनकी दृष्टि मे जो बुरी है, वह तुम्हारी दृष्टि मे अच्छी हो सकती है। यह तो अपनी-अपनी दृष्टि है। अपना-अपना विचार है। इसमे लडने और झगडने जैसी तो कोई चीज नही है।

देखिए, तीनो व्यक्ति अपनी-अपनी विचार-दृष्टि के अनुसार तीन तरह का वचन प्रयोग करते है। पहला विधि-सम्बन्धी, दूसरा निषेध-सम्बन्धी, और तीसरा उभयात्मक, अर्थात्—विधि और निषेध दोनो से सम्बन्धित। अस्तु, जब हम किसी वस्तु को अच्छी कहते है, तो इसका यही तात्पर्य

६—स्याद् अनित्य अवक्तव्य एव घट,

७—स्याद् नित्य अनित्य अवक्तव्य एव घट,

किसी भी पदार्थ के विषय मे उपर्युक्त सात प्रकार से ही प्रश्न हो सकते हैं, अत. आठवाँ, नवा या दशवाँ भग नही बन सकता। इसीलिए "सप्त-भगी" मे सप्त-पद बिल्कुल सार्थक एव अवधारणात्मक है। अर्थात्—सात ही भग हैं, कम या अधिक नही। उक्त सात वचन प्रयोगो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१—घट द्रव्य अपेक्षा से नित्य है।

२—घट पर्याय अपेक्षा से अनित्य है।

३—घट क्रम विवक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी।

४—घट अवक्तव्य है, अर्थात् युगपद्-विवक्षा से अवक्तव्य भी है। उपर्युक्त चार वचन प्रयोगो पर से पिछले तीन वचन और बनाये जाते हैं।

५—द्रव्य अपेक्षा से घट 'नित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

६—पर्याय अपेक्षा मे घट 'अनित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

७—द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से घट क्रमश 'नित्य' और 'अनित्य' होने के साथ-साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है। पिछले तीन वचन-प्रयोग, अवक्तव्य रूप चतुर्थ भग के साथ पहला, दूसरा और तीसरा मिलाने से बनते हैं। अत. वास्तव मे मुख्य-रूप मे तीन या चार ही भग हैं।

वस्तुत शब्द की प्रवृत्ति प्रवक्ता के भावो पर आधारित होती है। अर्थात्— प्रत्येक वस्तु मे अनेक (अनन्त) धर्म होते है, विभिन्न प्रवक्ता अपने-अपने दृष्टिकोण से उनका उल्लेख करते हैं।

मान लीजिए, दो मनुष्य है। दोनो बाजार मे कुछ सौदा खरीदने गए हैं। किसी दुकान पर दोनो पहुँचे और उन्होने अनेक वस्तुएँ देखी। अपनी पसन्द के अनुसार एक किसी वस्तु को अच्छी बतला रहा है, और दूसरा उसी को बुरी बतला रहा है। दोनो मे विवाद खडा हो जाता है। इधर से कोई तटस्थ पथिक भी चला जा रहा है। उसने दोनो को झगडते देखा, और पूछा—'क्यो भाई, तुम परस्पर क्यो झगड रहे हो ?' दोनो अपनी-अपनी बात कह देते है। समझदार पथिक दोनो की बात सुनकर उनको समझाता है कि देखो—विवादास्पद वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। जो वस्तु तुम्हारी दृष्टि मे अच्छी है, वह इनकी दृष्टि मे बुरी हो सकती है, और इनकी दृष्टि मे जो बुरी है, वह तुम्हारी दृष्टि मे अच्छी हो सकती है। यह तो अपनी-अपनी दृष्टि है। अपना-अपना विचार है। इसमे लडने और झगडने जैसी तो कोई चीज नही है।

देखिए, तीनो व्यक्ति अपनी-अपनी विचार-दृष्टि के अनुसार तीन तरह का वचन प्रयोग करते है। पहला विधि-सम्बन्धी, दूसरा निषेध-सम्बन्धी, और तीसरा उभयात्मक ; अर्थात्—विधि और निषेध दोनो से सम्बन्धित। अस्तु, जब हम किसी वस्तु को अच्छी कहते है, तो इसका यही तात्पर्य

है कि वह वस्तु हमारी दृष्टि मे सुन्दर है, किन्तु दूसरे की दृष्टि मे वह बुरी या असुन्दर भी हो सकती है।

सप्त-भगी के विषय मे एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है, और वह है—भगो के क्रम मे मत-भेद का उत्पन्न होना। कुछ ग्रन्थकार 'अवक्तव्य' को तीसरा, और 'नित्यानित्य' को चतुर्थ भग के रूप मे स्वीकार करते है। परन्तु अन्य आचार्य 'नित्यानित्य' को तीसरे और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भग के रूप मे स्वीकार करते हैं। इस क्रम-भेद मे दिगम्बर और श्वेताबर दोनो सम्प्रदायो के आचार्य सम्मिलित है। यद्यपि दोनो सम्प्रदायो के आचार्यो ने इस प्रकार अपने-अपने ग्रथो मे भिन्न-भिन्न विकल्प क्रम को स्थान दिया है, परन्तु इस क्रम-भेद से वस्तु-स्थिति मे किसी भी प्रकार का अन्तर नही दिखलाई देता।

सप्त-भगी का सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ है, और पारस्परिक कलह को दूर करने वाला समस्त वस्तु-स्वरूप का परिचायक शान्त-प्रयोग है। यदि इस सिद्धान्त को हम अपने दैनिक व्यवहार मे अपना ले, तो निश्चय ही हमारी साम्प्रदायिक मोह-ममता दूर हो सकती है। जिस भाँति जैनो ने अहिसा को सक्रिय रूप दे दिया है, उसी भाँति यदि हम स्याद्वाद' और 'सप्त-भगी' को भी अपने जीवन-व्यवहार मे सक्रिय रूप दे दे, तो हमारा समाज सुसगठित एव सुदृढ हो सकता है। हम एक न हो सकेगे, ऐसी कोई असम्भव बात नही है। हाँ, एकता के लिए अपनी-अपनी तथ्य-हीन मान्यताओ और निराधार धारणाओ का परित्याग अवश्य ही करना होगा।

अस्तु, यदि हमे जीवन के अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए, समाज के कल्याण के लिए, तथा राष्ट्र के उत्थान के लिए जीवित रहना है , और साथ ही यदि हम ससार मे अपने धर्म-सिद्धान्तो का प्रचार एव प्रसार भी करना चाहते है, तो हमे विभिन्न सम्प्रदायो की सकीर्ण मान्यताओ तथा रूढ-परम्पराओ के एकान्त-मूलक गति-रोधक प्रति-बन्धो को तोडने के लिए नैतिक-साहस का सहारा लेना होगा ।

नैतिक साहस की उपलब्धि के सम्बन्ध मे यह स्पष्टी-करण विषय-सगत ही होगा कि नैतिक साहस कोई बाह्य एव कृत्रिम उपाय नही, अपितु सत्य के प्रति मन, वचन और कर्म की सत्य-निष्ठ एकरूपता है। और, यह अद्भुत एक रूपता तभी सम्भव है, जब मानव का मन और मस्तिष्क समस्त सकीर्णताओ से मुक्त रह कर विशालता और व्यापकता को अगीकार कर ले ।

अतएव जब हमारा मन और मस्तिष्क अपेक्षित विशालता और व्यापकता के द्वारा नैतिक साहस को प्राप्त कर लेगा, तब हमारे अन्दर सहिष्णुता नामक अलौकिक सुगन्ध का अबाध सचार होगा, जिससे सकीर्णता की दुर्गन्ध दूर होगी, और अपने तथा पराये सत्य के पूर्ण-रूप के प्रति शाश्वत स्नेह का उदय होगा ।

साराश मे यह कथन पर्याप्त होगा कि मानव-जीवन मे 'स्व-सत्यनिष्ठा' की भाँति 'पर-सत्यनिष्ठा' हो जाने पर ही—

'पर-मत' अथवा 'पर-धर्म' सम्बन्धी सहिष्णुता की उपलब्धि सम्भव है, और इस सम्भावना को साकार रूप मे प्रदर्शित करने के लिए अनेकान्त-वाद और सप्त-भगी-वाद को जीवन मे उतारना होगा ।

सप्त-भंगी पर दृष्टान्त

एक थोक माल का खरीदार गाडी से उतर कर, शहर की ओर जाते हुए मार्ग मे स्थित किसी परिचित सेठ से पूछता है कि क्या आपकी दुकान पर थोक माल है ?

१ **स्यादस्ति एव**—कथचित् है, सेठ ने जवाव दिया ।

फिर खरीदार पूछता है—क्या आपके पास विदेशी माल भी है ?

२ **स्यात् नास्ति एव**— कथचित् नही है, सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है—क्या स्व-देशी माल सब प्रकार का उपस्थित है ?

३ **स्यादस्ति नास्ति एव**—कथचित् है भी, और नही भी । सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है कि—किस-किस कम्पनी का माल आप के पास उपस्थित है, सक्षेप मे मुझे एक ही वाक्य मे उत्तर दे ?

४ **स्यादवक्तव्यमेव**—कथचित् अवक्तव्य है, इस प्रकार सेठ ने सक्षेप मे ही उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है--क्या अमुक कम्पनी का माल है ? यदि है, तो कौन-कौनसा माल है ? एक ही भग से उत्तर द ।

५ स्यादस्ति स्यादवक्तव्यमेव-- कथचित् है, और कथचित्, अवक्तव्य है , अर्थात् माल तो है, परन्तु कौन-कौन सा है, यह कहा नही जा सकता, सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है कि--क्या आपके यहाँ अमुक कम्पनी का माल है ? यदि नही है, तो कृपया यह भी बताएँ कि किस-किस कम्पनी का माल नही है ? एक ही वाक्य मे उत्तर दे ।

६ स्यात्नास्ति स्यादवक्तव्यमेव---कथचित् नही है, कथचित् अवक्तव्य है, अर्थात् जिस कम्पनी का नाम आप ले रहे है, उसका माल मेरे पास थोक नही है । किस-किस कम्पनी का माल मेरे पास नही है, यह कहा नही जा सकता । सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर वही आगन्तुक व्यापारी पूछता है, कि क्या अमुक कम्पनी का बना हुआ माल सब प्रकार का है, या नही ? यदि है, तो कौन-कौनसा माल है ? यदि नही है, तो कौन सा माल नही है ? इसका उत्तर एक ही वाक्य मे दे ।

७ स्यादस्ति नास्ति स्यादवक्तव्यमेव--कथचित् है, और नही भी, कथचित् अवक्तव्य भी है, अर्थात्--उस कम्पनी का माल बहुत कुछ उपस्थित है, बहुत कुछ बिक चुका, थोक रूप मे नही है । उस कम्पनी कामाल अब कौन सा है, और कौन-सा नही--यह कुछ कहा नही जा सकता । अत यदि एक ही वाक्य मे उत्तर देना हो,तो पूर्वोक्त सातवे भग से ही दिया जा सकता है ।

सम्यग्-दर्शन पर सप्त-भंगी

१—स्याद्अस्तिएव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—
यह भग चतुर्थ गुण स्थान से लेकर षष्ठ गुण-स्थान तक तथा त्रयोदश इन चार गुण स्थानो मे पाया जाता है।

२—स्यान्नास्तिएव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—
यह भग पहले से तीसरे तक और एकादशवा, इन चार गुण-स्थानो मे पाया जाता है।

३—स्यादस्तिनास्तिएव क्षायिक सम्यग्दर्शनम्—
यह भग सातवे से दशवे गुण-स्थान तक तथा बारहवे और चौदवे इन छह गुण- स्थानो मे पाया जाता है।

४—स्यादवक्तव्यमेव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—
पूर्वोक्त तीसरे भग मे जो गुण-स्थानो का उल्लेख किया है, उनमे से वर्त्तमान काल मे किस किस स्थान मे सम्यग्दर्शन का सद्भाव, और किस किस मे असद्भाव है, यह कहना एक समय मे अशक्य है।

५—स्यादस्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिकसम्यग्-दर्शनम्—यह भग प्रथम और चतुर्थ भग का सम्मिश्रण है।

६—स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिक सम्यग्दर्शनम्—यह भग दूसरे और चतुर्थ भग का सम्मिश्रण है।

७—स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिक सम्यग्-दर्शनम्—तीसरे और चतुर्थ भग का सम्मिश्रण है।

नैगम-नय

देश-समग्र-ग्राही नैगमः

— तत्त्वार्थ भाष्य, १—३५

नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम् ।
निर्विशेषं न सामान्यं, विशेषोऽपि न तद् विना ॥

— नय-कर्णिका

"नैगम-नय वस्तु को उभयात्मक, अर्थात् सामान्य-विशेष रूप मानता है। क्योंकि विशेष के विना सामान्य और सामान्य के विना विशेष, किसी भी तरह घटित नही हो सकते।"

: ७ :

नैगम-नय

अध्यापक ने अपना नय विषयक वक्तव्य सक्षेप में ही समाप्त करके सातो छात्रो को नैगम-नय का अर्थ, और उसका सक्षिप्त विवेचन करने की आज्ञा प्रदान की। तदनन्तर छात्रो ने नैगम-नय का अर्थ करते हुए अपने-अपने विचार प्रगट किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा— "अनेक प्रकार के सामान्य एव विशेष-ग्राहक ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया जाय, उसे 'नैगम-नय' कहते हैं।"—१

वैशेषिक दर्शन के अनुसार-यदि सामान्य और विशेष का स्वरूप माना जाए, तो 'अविशुद्ध' नैगम नय के अन्तर्भूत हो सकता है, क्योकि वैशेषिक दर्शनकार ने सामान्य

१—णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरुत्ती।

— अनुयोगद्वार सूत्र टीका

और विशेष को भिन्न-भिन्न पदार्थ माना है, और तदनुसार उनके लक्षण भी भिन्न ही प्रतिपादित किए है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"लोकार्थ निवोध को निगम कहते हैं, उसमे जो कुशल हो उसे नैगम कहते है।"—१

'लोक' का आशय लौकिक मे है। अर्थ का तात्पर्य है—जीवादि तत्त्व, अर्थात्—लौकिक दर्शनकारो ने जीवादि तत्त्व पर अपनी-अपनी मान्यतानुसार जो विचार धाराएँ व्यक्त की हैं, उसे निगम कहते है, उसी को सुव्यवस्थित तथा विशिष्ट-रूपेण बोध कराने वाले ज्ञान को 'नैगम-नय' कहते है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"जिसके द्वारा गमन किया जाए, उसे 'गम' कहते है। जिसके अनेक मार्ग हो, उसे 'नैक गम' कहते है। निरुक्त विधि से 'नैक' शब्द का ककार लुप्त हो जाने पर 'नैगम' शब्द बनता है।—२

१—"लोगत्थ-णिवोहा वा निगमा, तेसु कुसलोऽभवोऽयम्।"
— नय प्रदीप

२—"जे नेगगमो, अणेग-पहो, णेगमो, तेण गम्यतेऽनेनेति" गम = पन्था, न एक-गमा पन्थानो यस्यामौ नैकगम। निरुक्त-विधिना ककार-लोपात् नैगम इति।"
— विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति

हत्थे की लकडी के सकल्प से कहो जाते हुए, यदि किसी को कोई पूछे कि आप कहाँ जा रहे हैं ? तव वह जवाब मे कहता है कि मै कुल्हाडी लेने जा रहा हूँ। वास्तव मे तो वह कुल्हाडी के लिए हत्थे की लकडी लेने ही जा रहा है, तब भी वह ऊपर जैसा ही जबाब देता है, और पूछने वाला भी तत्काल उसके तात्पर्य को समझ लेता है। यह एक तरह की 'लोक-रूढि' है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"नैक गच्छतीति निगम, निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगम.,"—लोक-रूढि के अनुसार जिसके अनेको ही मार्ग हो, उसे नैगम कहते है। मुख्यतया नैगम नय के तीन भेद है—१

(१) महासामान्य,
(२) सामान्य,
(३) विशेष।

पर-सत्ता को महासामान्य कहते है। अपर-सत्ता को सामान्य कहते है। और जो नित्य द्रव्यो मे रहने वाले है तथा व्यावर्त्तक है, वे विशेष कहलाते है। दूसरी शैली से भी इसके तीन भेद वनते है , जैसे—(क) अविशुद्ध नैगम (ख) विशुद्धा-विशुद्ध नैगम, और (ग) विशुद्ध नैगम।

१—नैक गच्छतीति निगम । निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगम।'
—अनुयोगद्वार सूत्र टीका

कथित तीनो भेदो को स्पष्टतया समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। जैसे—

कोई व्यक्ति चादर वनाने के लिए बाजार से रूई खरीद रहा है। वही पर किसी आगन्तुक ने पूछा, क्या ले रहा है? उसने उत्तर दिया चादर ले रहा हूँ। वही आगन्तुक व्यक्ति उस रूई को पीज भी रहा है। अत उससे पूछा गया—क्या वना रहा है? वह उत्तर देता है, मै चादर वना रहा हूँ वही व्यक्ति तकली या चर्खे से सूत कात रहा है, किसी ने पूछा—क्या वना रहे हो? उसने उत्तर दिया—मैं चादर वना रहा हूँ। खड्डी मे ताना तानत हुए से पूछा, कि क्या वना रहा है? उत्तर दिया, मैं चादर वना रहा हूँ। अर्थात् चादर वनाने के दृढ सकल्प से लेकर रूई खरीदने तक 'अविशुद्ध नैगम' कहलाता है, और सूत कातना आदि क्रिया 'विशुद्धाविशुद्ध नैगम' कहलाता है, ताना तानते हुए उसने जो उत्तर दिया, वह 'विशुद्ध नैगम' है।

पंचम छात्र

पाँचवे छात्र ने कहा—"जब अतीत काल मे वर्त्तमान का आरोप किया जाए, तव उसे भूत-नैगम कहते है। जैसे आज दीपावली को श्रीवर्द्धमान स्वामी का निर्वाण हुआ। आज अमुक तीर्थङ्कर को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।"

"जव भावि-काल मे भूत काल की तरह कथन किया जाता है, तव उसे भावि-नैगम कहते है। जैसे कि भव-सिद्धिक जीव सिद्ध ही है, क्योकि भगवती सूत्र के अट्ठारहवे

शतक मे भगवान् महावीर स्वामी प्रतिपादन करते है, कि—भव-सिद्धिक जीव एक या अनेक चरम है। अत जो चरम है, वे अर्हन् ही है, और जो अर्हन् है वे सिद्ध ही है। अत सिद्धत्व परिणाम अचरम है। जब कारण को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है, तब कार्य पूरा होने मे भले ही विलम्ब हो, परन्तु वह कार्य पूर्ण ही कहा जाता है। इस प्रकार के नय को "वर्त्तमान-नैगम-नय" कहते है।

उदाहरण के लिए भृगु पुरोहित और उसके दोनो पुत्रो का सवाद ले लीजिए—

पुरोहित के दोनो पुत्रो ने दीक्षा का दृढ सकल्प तो कर लिया, परन्तु अभी तक दीक्षा ग्रहण नही की थी। फिर भी पुरोहित ने उन्हे मुनि कहा है।—१

इसी प्रकार दीक्षा लेने से पहले ही नमिराज को राजर्षि कहा है। ये उदाहरण 'वर्तमान नैगम-नय' के है।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—जो विचार लौकिक रूढि अथवा लौकिक सस्कार के अनुसरण करने से पैदा होता है, उसे

१—अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं,
तवस्स वाघायकरं वयासी।
इम वय वेयविओ वयन्ति,
जहा न होइ असुयाण लोगो॥
— उत्तराध्ययन, १४—८

नैगम कहते है, अर्थात्—लोक रूढियो से पडे हुए सस्कारों के कारण जो विचार उत्पन्न होते है, वे सभी नैगम-नय के अन्तर्भुक्त हो जाते है। देश, काल एव लोक स्वभाव सम्बन्धी भेदो की विविधता के कारण लोक रूढियाँ तथा तज्जन्य सस्कार भी अनेक तरह के होते है। उसके उदाहरण विविध प्रकार के मिलते है।

सप्तम छात्र

सातवे छात्र ने कहा—जो नय एक गम, अर्थात्—एक विकल्प-रूप ही नही हो, किन्तु जो अनेक विकल्पो द्वारा अनेक मान, अनुमान और प्रमाण द्वारा वस्तु-स्वरूप को समझता हो, पदार्थ को सामान्य, विशेप तथा उभयात्मक मानता हो, तीनो काल की वात को स्वीकार करता हो, किसी वस्तु मे अश-मात्र गुण होने पर भी उसे पूर्ण वस्तु मानता हो, चारो निक्षेपो को अङ्गीकार करता हो, वह ज्ञान नैगम-नय कहलाता है। अथवा—

किसी वस्तु मे किसी एक पर्याय के होने की योग्यता मात्र देखकर वर्त्तमान मे उस पर्याय के अभाव मे भी उस वस्तु को उस पर्याय-युक्त कहना, उसे नैगम-नय कहते है।

जैसे वर्त्तमान मे श्रेणिक की आत्मा को नारकीय होते हुए भी तीर्थङ्कर कहना, क्योकि यह नय, द्रव्य-तीर्थङ्कर को भी तीर्थङ्कर मानता है। द्रव्य-साधु को भी साधु मानता है।

इसके पश्चात् अध्यापक नय और नैगम का अर्थ बतलाते हुए इस प्रकार कहने लगा—

अध्यापक

किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपरण करने वाला विचार 'नय' है"—नयो का निरूपरण, अर्थात्—विचारो का वर्गीकरण। जैसे सूत्रकार शिष्य की सुगमता के लिए किसी महान् शास्त्र के रचना काल मे अपने अभीष्ट विचारो को पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध, अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध एव द्वितीय श्रुतस्कन्ध, इस प्रकार दो विभागो मे विभक्त कर देते है। आगे चलकर प्रत्येक श्रुतस्कन्ध मे भिन्न-भिन्न विषय पर अध्ययन। प्रत्येक अध्ययन मे भिन्न-भिन्न प्रकरण, और प्रत्येक प्रकरण मे एक ही विषय को स्पष्ट करने वाले भिन्न-भिन्न विचार। इसी प्रकार नय-शास्त्र मे 'नय-वाद' का निरूपण है, अर्थात्—"विचारो की मीमासा" ही 'नय-वाद' है।

इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि—जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखाई पडते हैं, परन्तु वास्तव मे जिनका विरोध नही है, ऐसे विचारो के अविरोध के बीज की गवेषरणा करना, अर्थात्--परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले विचारो के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषरणा करके वैसे विचारो का समन्वय करने वाला शास्त्र 'नय-वाद' कहलाता है। सात नयो को दो वर्गो मे विभक्त किया गया है—(क) द्रव्यार्थिक, और (ख) पर्यायार्थिक। वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला नय 'द्रव्यार्थिक' कहा जाता है, और विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला नय 'पर्यायार्थिक' कहा जाता है।

सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक-सी नहीं होती, उनमे भी अन्तर रहता है। इसी को बतलाने के लिए इन दो विचार दृष्टियो के पुन अनेक भाग किये गए है। जैसे कि द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—"नैगम, सग्रह, व्यवहार और पर्यायार्थिक नय के चार भेद है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। अब 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' का स्वरूप उदाहरण के द्वारा समझिए।

पहला उदाहरण—

जैसे किसी मनुष्य ने गाढ-तिमिर मे स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा हस्त-गत वस्तु को जाना कि यह पुस्तक है। फिर उसका आकार-प्रकार और वजन भी जाना। फिर दूरवर्ती बिजली के प्रकाश से टाईटल की खूबसूरती और कागज का रग, उसकी चमक, स्निग्धता तथा रूक्षता और मोटाई को भी जाना। 'द्रव्यार्थिक नय' का यह सक्षिप्त परिचय है।

अनन्तर उसकी भाषा भी जानी जा सकती है। रचयिता कौन है? भाषा-शैली कैसी है? विषय क्या है? छपाई कैसी है? मूल्य क्या है? कहाँ से मिलती है? इसके अभी तक कितने सस्करण निकल चुके है? कौन-से सन् मे छपी है? किस प्रेस मे छपी है? भूमिका किस की लिखी हुई है? पृष्ठ सख्या और ग्रन्थाग्र कितना है? आदि अनेक प्रश्न हल किए जा सकते है, इसी को 'पर्यायार्थिक नय' कहते है।

दूसरा उदाहरण—

जैसे अबोध बालक किसी विशिष्ट चित्रगत सौन्दर्य को

या उसके आकार-प्रकार को महासामान्य रूप मे ही जानता और देखता है। आठ वर्ष का बालक कुछ विशेष रूप से जानता है, और देखता है। चित्र-कला से अनभिज्ञ सोलह वर्ष का बालक भी हो, तब भी वह जो कुछ जानता और देखता है, पहले की अपेक्षा से तो वह विशेष ही जानता है, किन्तु है यह भी सामान्य की कोटि मे ही। यहाँ तक 'द्रव्यार्थिक नय' का सम्बन्ध है।

विशिष्ट चित्रकार उसी चित्र को विशेष रूप से जानता है, यही 'पर्यायार्थिक नय' है। जेसे विशेष दृष्टि वाला मनुष्य अनघड सुवर्ण मे भी भूषण आदि अनन्त पर्यायो की कल्पना कर सकता है, और कल्पित को भी जान सकता है, इसी प्रकार उन अनन्त पर्यायो मे से किसी भी एक में, सामान्य दृष्टि द्वारा वही मनुष्य स्वर्णत्व को भी जान सकता है। द्रव्य दृष्टि मे विशेप-पर्याय, और पर्याय दृष्टि मे द्रव्य-सामान्य आता ही नही, ऐसी बात नही है। यह दृष्टि विभाग तो केवल गौण और प्रधान भाव की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

नैगम-नय का आधार —लोक-रूढि है, जो आरोप पर आश्रित है। और आरोप होता है--सामान्य-तत्त्वाश्रयी। ऐसा होने से 'नैगम-नय' सामान्य-ग्राही होता है।

नैगम-नय का विषय सबसे अधिक विशाल है, क्योकि वह सामान्य और विशेष दोनो का ही लोक-रूढि के अनुसार कभी तो गौण रूप से और कभी मुख्य रूप से अवलवन करता है।

जैसे--गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और

जातिमान्, क्रिया और कारक आदि उपक्रमो मे भेद और अभेद की विवक्षा करना ही नैगम-नय है ।

गुण और गुणी कभी भिन्न है और कभी अभिन्न । जिस समय कर्त्ता की विवक्षा भेद की ओर होती है, उस समय अभेद गौण हो जाता है, और जिस समय अभेद की विवक्षा की जाती है, उस समय भेद की गौणता स्पष्ट हो जाती है । साराश मे यह कथन पर्याप्त है कि भेद और अभेद को—गौण और प्रधान , दोनो भाव से ग्रहण करना ही 'नैगम-नय' का विषय है ।

यदि एकान्त भेद को ही ग्रहण करे और अभेद की विल्कुल नास्ति ही कर दे, या अभेद को ही मान्यता की कोटि मे रखे, और भेद की पूर्णतया उपेक्षा करे, तो इसी का नाम 'नैगमाभास' है ।

वस्तुत नैगमाभास नय नही, वल्कि दुर्नय, अर्थात्—मिथ्यात्व-पोपक है, अत यह सिद्धान्त की कोटि मे नही आ सकता । जैसे कि न्याय तथा वैशेपिक दर्शनकारो ने सामान्य तथा विशेप ये दोनों परस्पर पदार्थो को अत्यन्त भिन्न माना है, द्रव्य, गुण और कर्म मे भी उक्त दोनो पदार्थो को अत्यन्त भिन्न माना है । यही 'दुर्नय' है ।

संग्रह-नय

सामान्य-मात्र-ग्राही परामर्शः संग्रहः

— प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ७—१३

सग्रह', अर्थात्—जो दृष्टि या श्रुत-ज्ञान सामान्य रूप से समस्त द्रव्यो का सग्रह करता है, वह 'सग्रह-नय' है। इसका विषय नैगम से कुछ सकुचित है, क्योकि नैगम-नय का विषय सामान्य और विशेष दोनो ही है। किन्तु सग्रह का विषय केवल सामान्य ही है।

तृतीय छात्र

तीसरा छात्र बोला—"सर्वेऽपि भेदा सामान्य रूपतया सगृह्यतेऽनेनेति सग्रह", अर्थात्—जिस ज्ञान के द्वारा सभी भेद तथा उपभेदो का सग्रह किया जाए, वह 'सग्रह-नय' कहलाता है। अर्थात्—जो विचार भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओ तथा अनेक व्यक्तियो को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप मे सगृहीत कर लेता है, वह 'सग्रह-नय' है।

चतुर्थ छात्र

चौथा छात्र बोला—'सामान्य मात्र ग्राही परमार्थः सग्रह', अर्थात्—सामान्य मात्रग्राही जो ज्ञान है, वह 'सग्रह-नय' है। इस वाक्य मे 'मात्रपद' दिया है, जिसका अर्थ होता है—"मात्र कात्स्न्र्येऽवधारणे च"—मात्रपद सम्पूर्ण और निश्चय का द्योतक है। 'सग्रह-नय' का विषय निश्चितरूपेण सामान्य ही है, अर्थात्—जहाँ-जहाँ सामान्य है, वहाँ-वहाँ सग्रह नय का विषय है।

पचम छात्र

पाँचवा छात्र बोला—"सामान्यमशेष-विशेष-रहितम्"—

अर्थात् जो समस्त विशेषो से रहित है, वही सामान्य है। "सग्रहण सामान्यरूपतया सर्व-वस्तूनामाक्रोडन ' सग्रह" ; अर्थात्– जो वाक्य सामान्य रूप से सभी वस्तुओ को अभेद दृष्टि से एक रूप मे सग्रह करे, वह 'सग्रह-नय' है। जैसे कि मनुष्य जाति मे सज्ञी-मनुष्य तथा असज्ञी-मनुष्य, अपर्याप्त- मनुष्य और पर्याप्त-मनुष्य, छहो सहनन वाले मनुष्यो तथा छहो सस्थान वाले मनुष्यो, और अखिल वर्णों का अन्तर्भाव हो जाता है, अर्थात्—मनुष्य जाति मे सभी प्रकार के मनुष्य अभेद रूप से रह रहे हैं, जिसे शास्त्रीय परिभाषा मे 'मनुष्य दण्डक' भी कहते हैं।

षष्ठ छात्र

छठा छात्र बोला—जो एकीभाव करके पिडीभूत विशेष राशि को ग्रहण करे, उसे 'सग्रह-नय' कहते हैं। सग्रह दो प्रकार का होता है—सामान्य और विशेष। पहला समान्य-सग्रह, जैसे कि सर्व द्रव्य परस्पर अविरोधी है। और दूसरा विशेष सग्रह—जैसे कि सभी जीव-द्रव्यात्मा की दृष्टि से परस्पर अविरोधी है।

सप्तम छात्र

मातवॉ छात्र बोला—सगृहीत का अर्थ है—पर सग्रह। पिण्डित का अर्थ है—अपर सग्रह। अथवा सगृहीत का अर्थ है महासामान्य, और पिण्डित का अर्थ है– सामान्य-विशेष। सत्ता, पर-सग्रह, महासामान्य, ये मव सामान्य सग्रह के नामान्तर

हैं। जैसे कि द्रव्यत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि धर्म, सभी द्रव्यो मे समान रूप से विद्यमान है।—१

पिण्डित, अवान्तर, सामान्य, अपर सग्रह, आदि ये सब विशेष सग्रह के नामान्तर है। जैसे कि जीवत्व, पुद्गलत्व आदि धर्मस्व स्व-जाति मे अविरोधी भाव से रह रहे है। पर-जाति की अपेक्षा उपर्युक्त धर्म विशेष हैं, क्योकि ये धर्म अन्य द्रव्यो मे नही पाए जाते है, अत इसे विशेष सग्रह कह सकते है। स्व-जाति के विरोध के विना समस्त पदार्थो का एकत्व मे सग्रह करना ही 'सग्रह-नय' कहलाता है।

अध्यापक ने सब छात्रो के द्वारा की गई 'सग्रह नय' विपयक व्याख्या को दत्त-चित होकर सुना और साथ ही उन सभी के द्वारा वर्णित भिन्न-भिन्न लक्षणो को सकलित करते हुए अपने ढग से सग्रह-नय का विवेचन इस प्रकार किया —

अध्यापक

आप लोगो ने सग्रह-नय का भिन्न-भिन्न शैली से जो विवेचन किया है, वह निस्सन्देह विरोधी नही है। आशय तो सब का एक ही है, किन्तु कथन का ढग एक-दूसरे से भिन्न है। जिस प्रकार किसी ने रुपये का स्वरूप वतलाते हुए कहा कि

१—सगहिय-पिंडियत्थ सगह-वयण समासओ विंति।

— अनुयोगद्वार, सूत्र

दो अठन्नियो को रुपया कहते है। किसी ने कहा चार चवन्नियो को, किमी ने आठ दुअन्नियो को, एव सोलह आने को, बत्तीस टके को, चौसठ पैसो को, तो किसी ने १९२ पाइयो को रुपया बतलाया। जैसे उपर्युक्त सभी वाचक भिन्न-भिन्न है, किन्तु उन सभी वाचको का वाच्य एक ही है।

सामान्य या अभेद को ग्रहण करने वाली दृष्टि 'सग्रह-नय' है। यह हम जानते है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, तथैव भेदाभेदात्मक है। इन दोनो धर्मों मे से सामान्य या अभेद धर्म का ग्रहण करना, और विशेष-धर्म के प्रति, अर्थात्—भेद-धर्म के प्रति उदासीनता प्रकट करना 'सग्रह-नय' है। वस्तुत कोई भी पदार्थ ऐसा नही है, जो सत् न हो। जिस प्रकार नीलादि आकार वाले समस्त ज्ञान, सामान्य ज्ञान के भेद है, उसी प्रकार जीवादि जितने भी तत्व है, सब सत् है। परन्तु सग्रह की मान्यता है कि सब एक है, क्योकि सब सत् है।

इस सम्बन्ध मे स्थानाग सूत्र के एक स्थान मे लिखा है कि—आत्मा एक है।—१ जबकि अन्य आगमो मे आत्मा की सख्या अनन्तानन्त बतलाई गई है। फिर आत्मा की सख्या एक कैसे मानी जाए? ऐसी शका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। अत यह कहना पडेगा कि यह पाठ 'सग्रह-नय' की अपेक्षा से कहा गया है। आत्मा एक है, द्रव्यात्मा अथवा उप-योगात्मा की दृष्टि से। ये दो आत्मा-स्वरूप अल्प-विकासी

१—एगे आया।

—स्थानाग सूत्र, १—१

निगोद-जीव से लेकर सम्पूर्ण-विकासी सिद्धात्मा पर्यन्त सभी जीवो मे एक अर्थात् समान पाए जाते है। इसी प्रकार 'एगे पुण्णे' पुण्य एक है, जबकि इसी सूत्र के नौ वे स्थान मे नौ प्रकार के पुण्य का उल्लेख है। इस शका का समाधान भी सग्रह-नय की दृष्टि से हो जाता है। यद्यपि पुण्य अनेक प्रकार का है, फिर भी शुभ अध्यवसाय रूप होने के कारण वह सब एक ही है। यही बात 'एगे पावे' पाप एक है, इस सम्बन्ध मे भी है। अशुभ अध्यवसाय-रूप से परिणत आत्मा का परिणाम पाप है, वह अनेक प्रकार का होते हुए भी अशुभत्वेन एक है। इस प्रकार स्थानाग सूत्र का पहला स्थान प्राय 'सग्रह-नय' से ओत-प्रोत है।

द्रव्यावश्यक के करने वाले जितने भी व्यक्ति है, नैगम-नय, उतने ही द्रव्यावश्यक मानता है, किन्तु सग्रह-नय द्रव्यावश्यक रूप मे सब को एक मानता है। इसी प्रकार द्रव्य-श्रुत के विषय मे भी समझ लेना। वसति के विषय मे—सग्रह-नय मानता है कि जिस शय्या पर व्यक्ति आराम करता है, वह उसकी वसति है।

प्रदेश दृष्टान्त के विषय मे—नैगम-नय छह के प्रदेश मानता है। जैसे—धर्म-प्रदेश, अधर्म-प्रदेश, आकाश-प्रदेश, जीव-प्रदेश स्कन्ध-प्रदेश, देश-प्रदेश। जबकि सग्रह-नय मानता है कि देश-प्रदेश के बिना पाँच के प्रदेश है, क्योकि 'देश' उसी द्रव्य का एक भाग है, और उसके प्रदेश तो द्रव्य मे ही सम्मिलित किये जा सकते है। स्वतन्त्र रूप मे देश कोई चीज ही नही है। जैसे—'मेरे गुलाम ने घोडा खरीदा

है', इस वाक्य मे गुलाम भी मेरा है और घोडा भी मेरा। अत ऐसा नही कहना चाहिए कि छह के प्रदेश होते है, बल्कि यह कहना चाहिए कि पॉच के प्रदेश है, जैसे—धर्म-प्रदेश, अधर्म-प्रदेश, आकाश-प्रदेश, जीव-प्रदेश और स्कन्ध-प्रदेश।

महासामान्य के अवान्तर भेदो का ग्रहण करना सग्रह का कार्य है। 'अपर-सामान्य,' पर-सामान्य के द्रव्य-गुण आदि भेदो मे रहता है, अर्थात्—द्रव्य मे रहने वाली सत्ता 'पर-सामान्य' है और द्रव्य का जो द्रव्यत्व सामान्य है, वह 'अपर सामान्य' है। इसो प्रकार गुण मे सत्ता 'पर-सामान्य' है और गुणत्व 'अपर-सामान्य' है, जैसे—जीव-द्रव्य मे जीवत्व सामान्य अपर-सामान्य है। इस प्रकार जितने भी अपर हो सकते है, उन सब का ग्रहण करने वाला अपर सग्रह है। घटत्व, पटत्व, गोत्व तथा ब्राह्मणत्व आदि उदाहरण अपर-सामान्य के ही बनते है।

'सग्रह-नय की दृष्टि से सभी मुक्तात्मा एक समान है, अर्थात्—पन्दरह भेद वाले सिद्धो की गणना सग्रह नही करता है। यदि इसे अभेद-नय कहा जाए तो असगत न होगा। जिस प्रकार चारित्रात्मा मे पॉचो ही चारित्रो का सग्रह हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानात्मा मे पॉचो ही ज्ञान का सग्रह हो जाता है। इसी क्रम के अनुसार कषायात्मा मे चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियो का सग्रह, और योगात्मा मे पच्चीस योगो का सग्रह हो जाता है।

संग्रह-नय

सग्रहो मन्यते वस्तु,
सामान्यात्मकमेव हि ।
सामान्य-व्यतिरिक्तोऽस्ति,
न विशेष ख-पुष्पवत् ॥

— नय-कर्णिका

सग्रह-नय वस्तु को केवल सामान्यात्मक ही मानता है, क्योकि सामान्य से अलग विशेप आकाश के फूल की तरह कोई अस्तित्व नही रखता ।

व्यवहार-नय

लौकिक सम उपचारप्रायो,
विस्तृतार्थो व्यवहारः

— तत्त्वार्थ भाष्य, १—३५,

"जं संगहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध-सुद्ध वा।
सो ववहारो दुविहो असुद्ध-सुद्धत्थ भेयकरो ॥"

— लघु नय-चक्र

सग्रह-नय से ग्रहण की गई समस्त द्रव्यो की एक जाति मे विधिवत् भेद करने वाला, शुद्धार्थ-भेदक व्यवहार-नय है। यथा —द्रव्य के दो भेद है—'जीव' और 'अजीव'; तथा उन अवान्तर जातियो मे भी उपभेद करने वाला अशुद्धार्थ-भेदक व्यवहार-नय है। यथा--जीव के दो भेद है—'ससारी' और 'मुक्त'।

: ६ :

व्यवहार-नय

अध्यापक ने अपना सग्रह-नय विषयक वक्तव्य सक्षेप से निरूपण करके व्यवहार-नय का यथाशक्य विवेचन करने के लिए छात्रो को आदेश दिया । तदनुसार छात्रो ने 'व्यवहार-नय' का विवेचन इस प्रकार किया--

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा--जिसके द्वारा सामान्य का निराकरण किया जाए, और विशेष रूप से व्यवहार किया जाए, उसे 'व्यवहार-नय' कहते है।--१

तत्त्व-ज्ञान के प्रदेश मे सद्रूप वस्तु भी जड और चेतन रूप मे दो प्रकार की है। आगम मे जड-पदार्थ पाच प्रकार से वर्णित है, जैसे--धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय कालद्रव्य और पुद्गलास्तिकाय। इनमे से पुद्गलास्तिकाय

१--विशेषतोऽवह्रियते, निराक्रियते सामान्य येन, इति व्यवहार'।'
--विशेषावश्यक भाष्य-वृत्ति

ही रूपी तथा मूर्त है, शेष चार अरूपी और अमूर्त है।

चेतन तत्त्व के दो भेद ह -मुक्त और ससारी। व्यवहार-नय के अनुसार मुक्तात्मा के पन्द्रह भेद आगम-विहित है, और ससारी जीवो के पाँच-सौ तरेसठ भेद है। उक्त सामान्य तत्त्व के भेदानुभेद करके उसे व्यवहार मे लाना ही इस नय का मुख्य ध्येय है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"सग्रह-नय के द्वारा सगृहीत अर्थ का विधि पूर्वक अवहरण करना, अर्थात्—जिस अर्थ को सग्रह-नय ग्रहण करता है, उसी अर्थ को विशेष रूप से जब बोध कराना हो, तब उसका पृथक्करण करना पडता है, यही व्यवहार-नय है।' —२। जैसे कि औषध मात्र कहने और जानने से सामान्य का ही बोध हो सकता है, विशेष का नही। विशेष तो होगा—देशी और विदेशी।

फिर प्रत्येक के चार-चार भेद है, जैसे—खाने की, पीने की, डालने की और लगाने की औषधियाँ। आगे चलकर उनके नाम, गुण, दोष, मात्रा तथा सेवन-विधि, और अनुपान आदि प्रत्येक के भिन्न-भिन्न भेद है। इस प्रकार जानकारी के द्वारा अध्यवसाय विशेष को व्यवहार मे लाना ही लौकिक व्यवहार है। जो सामान्य-तत्त्व व्यवहार-पथ पर सही नही

२—विधि-पूर्वकमवहरण व्यवहार।

— तत्त्वार्थ राजवार्तिक

उतर सकता है, वह खर-शृङ्गवत् अवस्तु है । अत. लौकिक क्रिया का सूत्र-पात करने वाला 'व्यवहार-नय' ही है ।

तीर्थङ्कर भी छद्मस्थ को सन्मार्ग पर लगाने के लिए व्यवहार-नय का अनुसरण करते है । जो शिक्षा और उपदेश सूत्रो मे विहित है, वे सब प्रायेण व्यवहार-नय पर अवलम्बित हैं ।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"विविध वस्तुओ को एक रूप मे सकलित करने के पश्चात् उनका विशेष रूप मे बोध कराना हो, या लोक-व्यवहार मे उपयोग करने का जब भी प्रसग आए, तव उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक् करण करने वाली दृष्टि को व्यवहार-नय कहते है ।" जैसे कि मनुष्य कहने मात्र से भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यो का अलग-अलग बोध नही हो सकता ।—१

व्यवहार-नय मुख्यतया मनुष्य के चार भेद स्वीकार करता है, जैसे—कर्म-भूमिक, अकर्म-भूमिक, अतर्द्वीपक तथा सम्मूर्छिम , अथवा स्त्री, पुरुष, और नपु सक । इसी प्रकार चार वर्ण, और प्रत्येक वर्ण की भिन्न-भिन्न जाति और भिन्न-भिन्न कुल, जैसे—धनी और निर्धन, रोगी और नीरोगी, सद्गुणी और दुर्गुणी, रूपवान और रूप-विहीन, सज्जन और दुर्जन, आर्य और अनार्य, आदि अनेक भेद वन जाते है ।

१—लोक-व्यवहारपरो वा विशेपतो यस्माद इति व्यवहार ,

— नय रहस्य

विभाग उपचार रूप से करे, वह 'व्यवहार-नय' है।—१ सर्व-द्रव्यो और उनके विषयो मे सदा प्रवृत्ति करने वाले नय को 'व्यवहार-नय' कहते है।" यह नय प्राय लोक-व्यवहार सरणि का अनुसरण करने वाला है। जैसे कि घडा चूता है। वस्तुत चूता तो पानी है, किन्तु कहने मे यही आता है कि घडा चूता है। रास्ता चलता है, कुँआ चलता है, नगर आया, पर्वत जलता है, आदि कथन व्यवहार-नय के अनुसार प्रचलित हैं। जहाँ औपचारिक रूप से भेद का कथन किया जाए, वहाँ 'व्यवहार-नय' का अवतरण हो जाता है।

व्यवहार के लिए सदैव भेद-बुद्धि का अवलम्बन लेना पडता है। यह भेद-बुद्धि परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि-पथ मे रखते हुए अन्तिम भेद तक बढ सकती है, जिससे कि पुन भेद न हो सके। तीर्थङ्कर भगवान् भी व्यवहार की मर्यादा का अतिक्रमण नही करते। वस्तुत 'व्यवहार-नय' छद्मस्थो के लिए अत्यधिक उपयोगी है, और केवली भगवन्तो के लिए 'निश्चय-नय'। किन्तु फिर भी केवली भगवान् छद्मस्थ जनो का व्यवहार शुद्ध रखने के लिए स्वय ही 'व्यवहार-नय' का अनुसरण करते है। जैसे रात्रि के समय अभ्यन्तर परिषद मे रहना, (मल्लिनाथ भगवान् की अभ्यन्तर परिषद श्रमणी-वर्ग था) और सूर्यास्त के बाद विहार न करना, इन दोनो व्यवहार-मर्यादाओ का पालन करते है।

१—"भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहार।"
— आलाप पद्धति

छेद-सूत्रो मे प्रमत्त साधको के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। वह प्रायेण व्यवहार की अशुद्धि, एव सयम की स्खलना से वचने के लिए है। जहाँ साधक जीवन मे अप्रमत्त अवस्था है, वहाँ भी व्यवहार की शुद्धि अनिवार्य हो जाती है।

यह व्यवहार-नय भी द्रव्य को ही ग्रहण करता है, किन्तु इसका ग्रहण भेद-पूर्वक है, अभेद-पूर्वक नही।

सप्तम छात्र

सातवे छात्र ने कहा—"वच्चइ विणिच्छिअत्थ ववहारो सव्व दव्वेसु," —१ इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए मल्ल-धारी हेमचन्द्राचार्य लिखते है—

"निश्चय-सामान्य विगतो निश्चयो विनिश्चय सामान्या-भाव, तदर्थ तन्निमित्त व्रजति प्रवर्तते सामान्याभावायैव यतते व्यवहारो नय इत्यर्थ ।"—२

अर्थात्—"सामान्य-अभाव के लिए प्रवृत्ति करने वाले दृष्टि-कोण को 'व्यवहार-नय' कहते है।" यह लोक-व्यवहार का अग होने के कारण सामान्य को नही मानता। केवल विशेष को ही ग्रहण करता है। अथवा यो कहिए कि व्यवहार-नय' लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाला है।

व्यवहार-नय के दो भेद है—सामान्य-भेदक और विशेप-भेदक। सामान्य-सग्रह मे भेद करने वाले नय को 'सामान्य-

---

१—अनुयोग द्वार सूत्र

२—विशेपावश्यक भाष्य वृत्ति

भेदक' व्यवहार-नय कहते है। जैसे कि द्रव्य के दो भेद है—जीव और अजीव, रूपी और अरूपी, सक्रिय और निष्क्रिय, सप्रदेशी और अप्रदेशी, सचेतन और अचेतन, अगुरु-लघु और गुरु-लघु, भोक्ता और अभोक्ता आदि आदि।

विशेष-सग्रह मे भेद करने वाला विशेष-भेदक 'व्यवहार-नय' है। जैसे जीव के दो भेद—ससारी और मुक्त। छह द्रव्यो मे पुद्गलास्तिकाय रूपी है, शेष पाँच अरूपी। जीव और पुद्गल कथचित् सक्रिय है, शेष चार निष्क्रिय। एक काल-द्रव्य अप्रदेशी है, शेष पाँच सप्रदेशी। एक सचेतन द्रव्य भोक्ता है, शेष पाँच अभोक्ता। एक पुद्गलास्तिकाय कथचित् गुरु-लघु है, शेष पाँच अगुरु-लघु। एक आकाशास्तिकाय क्षेत्र है, शेष पाँच क्षेत्री। पुद्गलास्तिकाय के सिवाय पाँच द्रव्यो मे एक जीवास्तिकाय पोग्गल और पोग्गली है, शेष चार अपोग्गली, आदि विशेष-भेदक 'व्यवहार-नय' है।

जब सभी छात्र अपनी-अपनी बुद्धि से व्यवहार-नय का विस्तृत विवेचन कर चुके, तब अध्यापक बोला।

अध्यापक

मेरे प्रिय शिष्यो! यद्यपि आप लोगो ने व्यवहार-नय का विवेचन यथाशक्य बहुत कुछ किया, तथापि मैं अवशिष्ट विषय का स्पष्टीकरण तथा उपसहार करता हूँ। उसे ध्यान पूर्वक सुनो—

जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप मे सकलित वस्तुओं का व्यावहारिक प्रयोजनानुसार पृथक्करण

करता है, वह व्यवहार-नय है।

इसका विषय संग्रह-नय से न्यून है, क्योकि सामान्य से विशेष का विषय न्यून ही हुआ करता है। व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए भी द्रव्य-रूप है, न कि पर्याय-रूप। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो मे से व्यवहार का समावेश द्रव्यार्थिक नय मे किया गया है। नैगम, संग्रह, और व्यवहार-ऋजुसूत्र इन चारो नयो का समावेश द्रव्यार्थिक नय मे हो जाता है, शेष तीन नय-पर्यायार्थिक के भेद है। यह नय बाह्य स्वरूप का परिचायक है, और अपवाद मार्ग का अनुसरण करने वाला है।

"अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।"

अर्थात्—शुभाशुभ कर्मो का कर्त्ता तथा उनका भोक्ता आत्मा ही है।—१

अप्पा चेव दमेअव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होई, अस्मि लोए परत्थ य॥

अर्थात्—आत्मा को दमन करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। आत्मा अतीव दुर्दम है। वस्तुत दान्तात्मा ही ऐहिक तथा पारलौकिक सुख का अधिकारी होता है।—२

एक ओर तो भगवान् ने आत्म-विकास के लिए पूरा-पूरा जोर दिया है, और दूसरी ओर आत्मा को दमन करने

१—उत्तराध्ययन सूत्र
२—उत्तराध्ययन सूत्र,

को कहा है । अब इन दोनो मार्गों मे से कौन-सा ग्राह्य है ? यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है । इसका समाधान उक्त गाथा से ही हो जाता है । यहाँ कषायात्मा तथा योगात्मा से तात्पर्य है, इनका दमन करना ही आत्म-विकास है । इनका दमन सयम और तप से किया जा सकता है । सयम से पाँच आस्रवो का प्रवाह रोका जाता है और तप से अन्दर ही अन्दर कर्मो का शोषण करके उन्हे सत्ता-हीन बनाया जाता है । जैसे—अमृतपान शरीर-व्यापी विष को निर्विष बना देता है । यही उदाहरण तप मे समझना चाहिए ।

यह सब उपदेश व्यवहार-नय के अनुसार समझना चाहिए । क्योकि कर्म-बन्ध और मोक्ष व्यवहार-दृष्टि से है, निश्चय-दृष्टि से तो मूर्त और अमूर्त का परस्पर बन्ध हो ही नही सकता । जब बन्ध ही नहो, तो मुक्त होने का प्रश्न पैदा ही नही हो सकता । निश्चय मे तो आत्मा न कर्त्ता है, और न औदयिक दुःख और सुख का भोक्ता ही । यदि आत्मा को एकान्त-रूपेण कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता माना जाय, तो सिद्ध भगवन्तो को भी ससारी जीवो की तरह कर्मो का कर्ता और भोक्ता मानना पडेगा । ऐसी मान्यता सिद्धान्त मे स्वीकृत नही है । निश्चय-दृष्टि तो ऐसा मानती है कि कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता कथचित् कर्म ही है । निश्चय-दृष्टि चारित्र को भी व्यवहार मे समाविष्ट करती है, और आत्मा को केवल ज्ञाता एव द्रष्टा ही मानती है । ये ही आत्मा के दो वास्तविक गुण है । चारित्र का सम्बन्ध शरीर के साथ है । शरीर के विना चारित्र नही होता । मुक्तात्मा में शरीर

नही, अत वहाँ चारित्र भी नही है। तप, जप, सयम, ध्यान, समाधि, स्वाध्याय आदि शुभ क्रियाएँ, व्यवहार-नय की सीमा मे परिसीमित है। परोपकार, दान-शीलता, जीव-रक्षा, रोगोपचार अनुकम्पा, तथा अनाथ दीन-हीन दुखियो को सक्रिय सहयोग देना आदि शुभ क्रियाएँ भी व्यावहारिक है।

गुरु शिष्य को वाचना देते है, और शिष्य गुरु से वाचना लेते है, अर्थात्—विद्या का आदान-प्रदान व्यावहारिक है। व्यवहार-नय साधक को निश्चय की ओर अभिमुख करता है, और निश्चय श्रेणी मे पहुँचने के पश्चात् वह व्यवहार-नय की श्रेणी मे कथचित् नही रहता है। व्यवहार-नय चारो प्रमाणो तथा चारो निक्षेपो को स्वीकार करताहै एव काल-त्रय को भी मान्य करता है। तीन लोक, एव तीन योग को भी व्याव्ह'रिक शैली से मानत। है।

व्यवहार का स्वरूप अन्य प्रकार से भी ग्रन्थो मे वर्णित है। जैसे——व्यवहार दो प्रकार का होता हे। – (क) सद्भूत-व्यवहार, और (ख) असद्भूत-व्यवहार।

सद्भूत-व्यवहार का विषय एक वस्तु है, अर्थात्—जहाँ एक वस्तु मे अभिन्न होने हुए भी भिन्नता की प्रतीति हो, वह सद्भूत-व्यवहार कहलाता है। जैसे—एक वृक्ष है, उसके साथ लगी हुई शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होती है। सद्भूत के दो भेद है—(क) शुद्ध-सद्भूत, और (ख) अशुद्ध-सद्भूत। शुद्ध-सद्भूत के भा दा भेद है—(अ) निरुपाधि शुद्ध गुण-गुणी का भेद-कथन

करना, अथवा (ब) शुद्ध-पर्याय-शुद्ध-पर्यायी का भेद-कथन करना। क्षायिक भाव मे होने वाले कर्म-विकाररहित शुद्ध आत्मा से उसके गुण और पर्याय का भेद-कथन करना।

अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहार के भी दो भेद है—(क) अशुद्ध गुण-गुणी का, (ख) तथा अशुद्ध-पर्याय और पर्यायी का भेद-कथन करना। इसके साथ सोपाधि शब्द जोड देना चाहिए। जिसका अर्थ होता है—कर्म-जनित विकार के साथ होने वाले परिणाम, अर्थात्—औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक भावो मे होने वाले आत्म-परिणाम सभी सोपाधिक है। अशुद्ध-गुण,अशुद्ध-गुणी का उदाहरण मति-ज्ञान आदि चार ज्ञान, मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान, आदि अशुद्ध गुण है।

जीव (अशुद्ध) गुणी क्षयोपशम-जन्य है। नैरयिक आदि औदयिक-जन्य अशुद्ध-पर्याय हैं, जीव अशुद्ध पर्यायी है। शुद्ध सद्भूत को अनुपचरित सद्भूत और अशुद्ध सद्भूत को उपचरित सद्भूत भी कहते है।

जहाँ मुख्यता का तो अभाव हो, और किसी प्रयोजन के होने पर या किसी अन्य निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति हुआ करती है, वह उपचार सम्बन्ध का सहचारी है, अर्थात्—उपचार और सम्बन्ध का परस्पर अविनाभाव है। जहाँ-जहाँ उपचार है, वहाँ-वहाँ सम्बन्ध अनिवार्य है। जैसे स्फटिक रत्न पर जपाकुसुम रखने से स्फटिक रत्न लाल हो जाता है, क्योकि स्फटिक रत्न द्रव्य है, और जपाकुसुम भी द्रव्य है। यह है—द्रव्य मे द्रव्य का

उपचार । जो आकार–सस्थान जपाकुसुम का है, वही आकर–सस्थान स्फटिक रत्न मे प्रतिबिम्बित हो जाता है। यह है–द्रव्य मे पर्याय का उपचार । जपाकुसुम का रग लाल होता है, वही रग स्फटिक रत्न मे देखा जाता है, अत यह है—द्रव्य मे गुण का उपचार ।

इसी प्रकार—गुण मे गुण का उपचार, पर्याय मे पर्याय का उपचार, गुण मे द्रव्य का उपचार, गुण मे पर्याय का उपचार, पर्याय मे गुण का उपचार, पर्याय मे द्रव्य का उपचार समझ लेना चाहिए । इस विश्लेपरण के अनुसार उपचार के कुल छह भेद है ।

असद्भूत व्यवहार के तीन भेद हैं , जैसे—(क)स्वजाति असद्भूत व्यवहार, अर्थात्–परमाणु वहु-प्रदेशी है, यह कहना । (ख) विजाति-असद्भूत व्यवहार , जैसे—मति-ज्ञान मूर्तिमान है क्योकि वह ज्ञान मूर्त से जनित है, यह कहना । (ग) उभय असद्भूत व्यवहार , जैसे—ज्ञेय रूप जो जीव और अजीव हैं—उन्हे ज्ञान कहना , अर्थात्—यदि जीव न हो, तो ज्ञान किसी को हो ही नही सकता , अत जीव अजीव को ज्ञान समझना । वस्तुत वाह्य वस्तु तो सभी ज्ञेय हैं, और ज्ञान तो केवल आत्मा मे ही है ।

असद्भूत-व्यवहार नय का अन्य तीन प्रकार से भी वर्णन है—

(क) स्वजाति उपचरितासद्भूत व्यवहार, अर्थात्—यह पुत्र मेरा है । इसी प्रकार मनुष्य जाति के समस्त सम्बन्ध इसी व्यवहार मे अन्तर्भुक्त हो जाते है ।

(ख) विजातिउपचारित-सद्भूत व्यवहार, अर्थात्—
वस्त्र, आभरण, स्वर्ण, रत्न आदि मेरे है। यहाँ तात्पर्य
अचित परिग्रह से है।

(ग) तदुभयोपचरिता-सद्भूत व्यवहार, अर्थात्—देश,
राज्य, दुर्ग, नगर आदि मेरे है। यहाँ सचित्त और अचित्त,
दोनो का ही परिग्रह समझना चाहिए।

ऋजुसूत्र-नय

''सतां साम्प्रतानामर्थाना-
मभिधान-परिज्ञानम् ऋजु-सूत्रः ॥''

— तत्त्वार्थ भाष्य, १-३५,

"स्वानुकूलं वर्त्तमानं ऋजु-सूत्रो हि भाषते ।
तत्र क्षणिक-पर्यायं सूक्ष्मः स्थूलो नरादिकम् ॥"

— **द्रव्यानुयोग तर्कणा ;**

"अपने अनुकूल एव केवल वर्त्तमान सबद्ध विषय को ही 'ऋजुसूत्र-नय' ग्रहण करता है। उसमे भी सूक्ष्म ऋजुसूत्र क्षणिक पर्याय को, और स्थूल ऋजुसूत्र मनुष्य आदि पर्याय को ग्रहण करता है।"

: १० :

ऋजुसूत्र-नय

व्यवहार-नय के पश्चात् अध्यापक ने छात्रो से 'ऋजुसूत्र विषयक विवेचन करने के लिए निर्देश किया। निर्देश पाकर छात्रो ने ऋजुसूत्र की इस प्रकार व्याख्या की —

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—"वर्त्तमान क्षण मे होने वाली पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले अध्यवसाय-विशेष को 'ऋजुसूत्र-नय' कहते है।' जैसे—'इस समय मे सुख की पर्याय है,' यहाँ वर्तमान क्षण-स्थायी सुख-पर्याय को प्रधान मानकर अधिकरण भूत आत्मा को गौण रूप से स्वीकार करता है, अर्थात्—आत्मा के अनन्त पर्यायो मे से वर्त्तमान क्षण मे किसी एक पर्याय को दृष्टि-पथ मे रखकर पर्यायी को गौणता प्रदान करना ही इस नय का मुख्य विषय है।—१

१—"प्रत्युत्पन्न गाह्याध्यवसाय-विशेप ऋजु-सूत्र.।"

— नयसार

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—'जो सीधे ढग से वस्तु को मुक्ता-फल की तरह एक सूत्र मे पिरोए, वह श्रुत-ज्ञान विशेष ऋजुसूत्र कहलाता है।'—१

जो मोती के वर्त्तमान क्षण मे विद्ध है, वस्तुत वे ही, एक लडी मे पिरोये जा सकते हैं—दूसरे प्रकार के नही। इसी प्रकार अतीत क्षण की पर्याय भग्न मोती के समान है और अनागत क्षण की पर्याय अविद्ध मोती के सदृश हैं। अत दोनो तरह के मोती हार मे पिरोने के अयोग्य है। केवल विद्ध मोती ही सूत्र मे पिरोया जा सकता है। वह है वर्त्तमान पर्याय, जिसको ऋजुसूत्र-नय का विषय कहते हैं। सीधे ढग से केवल वर्त्तमान पर्याय ही ग्राह्य है, और यही कार्य-साधक है। इसके सिवाय अतीत और भावी से किसी भी कार्य की सिद्धि नही हो सकती। जैसे—इस घट मे घृत था, और उसमे मधु। अस्तु, इस घट में घृत डालेगे, और उसमे मधु। उक्त रिक्त घट को देखकर, घृताकांक्षी तथा मधु के इच्छुक की आशा पर तुषारपात हो जाता है, उनसे मनोरथ सफलीभूत नही हो सकता, किन्तु वर्त्तमान क्षण-वर्ती घृत-घट तथा मधु-घट से ही कार्य की सिद्धि हो सकती है।

१—ऋजुम्-अवक्रं वस्तु सूत्रयतीति ऋजु सूत्र ।'

— नय प्रदीप

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—'ऋजुम् अवक्र श्रुतमस्य सोऽयमृजुश्रुत' ।

'ऋजु का अर्थ है—वर्त्तमान पर्याय-अनुलक्षी । श्रुत का अर्थ है—श्रुत-ज्ञान, , अर्थात्-जो श्रुतज्ञान वर्त्तमान पर्याय-अनुलक्षी है, उसे 'ऋजुश्रुत नय' कहते है। यह नय अतीत तथा भावी पर्याय को कुटिल मानता है, और केवल वर्त्तमान कालीन पर्याय को ही ज्ञान का सरल मार्ग मानता है। अतीत वासना की स्मृति और भविष्य की चिन्ता—ये दो प्रकार की कुप्रवृत्तियाँ है, जो भले ही ससारी मनुष्य के लिए लाभ-दायक हो, परन्तु आध्यात्मिक साधक के लिए बहुत कुछ हानिकर हैं। किसी ने ठीक कहा है—

"गते शोको न कर्त्तव्यो, भविष्यन्नैव चिन्तयेत् ।
वर्त्तमानेन कालेन, वर्तयन्ति विचक्षरणा ॥"

अथवा

"गई वस्तु सोचे नही, आगम वाछा नाहि ।
वर्त्तमान वर्तै सदा, सो ज्ञानी जग माहि ॥"

यह कथन भी कथचित् ऋजुसूत्रानुसारी है। जो साधक वर्त्तमान काल मे सतत उपयोगवान्, अप्रमत्त तथा-विवेक युक्त होकर विहग की तरह अनन्त ज्ञान रूपी आकाश मे विचरण करता है, वस्तुतः ज्ञानी वही है, और मुमुक्षु भी वही है। वर्त्तमान कालीन जीवन को सफल बनाना ही इस नय का मुख्य उद्देश्य है।

'ऋजुसूत्र नय' कहते है।"—१

मनुष्य अनेक वार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक जाता है, केवल वर्त्तमान काल को ही अपना प्रवृत्ति क्षेत्र वना लेता है। ऐसी परिस्थिति मे उसके मस्तिष्क मे ऐसी प्रतीति होने लगती है कि जो वर्तमान मे है, वही सत्य है। अतीत और अनागत वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नही रहता। इसका अर्थ यह नही, कि वह अतीत और अनागत का निषेध करता है, किन्तु प्रयोजन के अभाव मे उनकी ओर उदासीनता अवश्य है।

ऋजुसूत्र-नय के मत से वस्तु की प्रत्येक अवस्था मे भेद है। प्रत्येक अवस्था अपने-अपने क्षण तक ही सीमित है, फिर चाहे वह अवस्था इस क्षण की हो, या दूसरे क्षण की। "स्फटिक रत्न श्वेत है," इस वाक्य मे प्रस्तुत नय का कहना है, कि स्फटिक रत्न, स्फटिक रत्न है, और श्वेतता, श्वेतता है। क्योकि स्फटिक रत्न और श्वेतता भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ है। यदि स्फटिक रत्न और श्वेतता एक अवस्था होती, तो सगमरमर भी श्वेत होने के नाते स्फटिक रत्न हो जाता, क्योकि वह भी श्वेत है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति मे वर्णित है कि सूर्य सदैव वर्त्तमान मे क्रिया करता है। वैसे तो क्रिया वर्त्तमान मे ही हुआ करती है, फिर भी सूत्रकार ने विशेषता वतलाने के लिए

१—सता साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञान ऋजुसूत्र।

— तत्त्वार्थ भाष्य

स्वतन्त्र कथन किया है, क्योकि सूर्य की वर्त्तमान गति-विधि से ही समय का प्रारम्भ होता है। एक समय को वर्तमान कहते है, इसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र भी कहते है, और यह वर्त्तमान सबसे छोटा माना गया है।

यह नय क्षणिक-वाद मे विश्वास रखता है, अत एव प्रत्येक अवस्था को अस्थायी मानता है। काल-भेद से वस्तु मे भेद मानता है, अत यह द्रव्यार्थिक न होकर पर्यायार्थिक नय है--यह मान्यता दार्शनिको की है। परन्तु आगमकारो की मान्यतानुसार ऋजुसूत्र-नय भी द्रव्यार्थिक नय है। जो द्रव्यार्थिक नय है, वह चारो निक्षेपो को मानता है। साकार उपयोग और अनाकार उपयोग, इन दोनो मे से एक काल मे एक ही उपयोग मानना, यह मान्यता भी ऋजुसूत्र-,नय के ऊपर ही अवलम्बित है।

सप्तम छात्र

सातवे छात्र ने कहा--"जो विचार भूत और भविष्यत् का सकल्प न करके केवल वर्त्तमान को ही ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र-नय' है।"--१

ऋजुसूत्र-नय द्रव्य-निक्षेप मे वर्त्तमानकालिक अश को मानता है, भूत और भावी निक्षेप को नही। यह नय वस्तुत द्रव्यार्थिक है, पर्यायार्थिक तो कथचित् ही कह सकते हैं। यदि ऋजुसूत्र-नय को पर्यायार्थिक-नय कहा जाए, तो यह

१--"पच्चुपण्णग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वोत्ति।"
— अनुयोगद्वार, विशेपावश्यक भाष्य,

मान्यता मूल-सूत्र के विरुद्ध है, क्योकि अनुयोगद्वार सूत्र मे एक पाठ आता है—"उज्जुसूअस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सय पुहत्त गोच्छइत्ति।" इस सूत्र से सिद्ध होता है कि नैगम से लेकर ऋजुसूत्र-नय तक चार नय द्रव्यार्थिक है, क्योकि पर्यायार्थिक-नय केवल भाव-निक्षेप को ही मानता है, और द्रव्यार्थिक-नय चारो ही निक्षेप को स्वीकार करता है। यदि कोई आगम-पाठी उपयोग-शून्य होकर आगम का स्वाध्याय कर रहा है, तो उसे भी यह द्रव्य-आगम मानता है, तथा लिपि-बद्ध आगम को भी द्रव्य-आगम मानता है। यह नय काल को अप्रदेशी मानता है, जबकि व्यवहार-नय काल को अनन्त मानता है।

इस नय की पूर्ण दृष्टि वर्तमान पर रहती है, क्योकि इस नय का विषय वर्तमान काल से ही सम्बन्धित है। जिस प्रकार काल भेद से वस्तु-भेद की मान्यता है, उसी प्रकार देश-भेद से भी वस्तु-भेद की मान्यता है।

भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए धन्य अनगार को चौदह हजार साधुओ मे सर्वश्रेष्ठ साधक कहा था। यह कथन ऋजुसूत्र-नय के अनुसार था। क्योकि उस समय अन्य मुनियो की अपेक्षा से धन्य अनगार की साधना सबसे विशुद्ध थी। इसलिए भगवान् ने धन्य अनगार की साधना की भूरि-भूरि प्रशसा की।

ऋजुसूत्र-नय के सम्बन्ध मे सातो छात्रो की विशद व्याख्या सुनने के बाद अध्यापक ने भी उक्त विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा—

अध्यापक

प्रिय छात्रो ! यद्यपि तुमने ऋजुसूत्र-नय का बहुत कुछ विवेचन भिन्न-भिन्न शैली से किया है, तथापि उसके अव्यक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए, तथा जो तुम्हारी स्मृति-पथ मे आवश्यकीय प्रतिपाद्य विषय प्रतिभासित नही हो सका, उसे स्मरण करवाने के लिए मै स्पष्ट करता हूँ। ध्यान-पूर्वक सुनिए—

"पर्याय की अवस्थिति वर्त्तमान काल मे ही होती है। भूत और भविष्यत् काल मे तो द्रव्य ही रहता है।"

सामान्य अथवा अभेद को विषय करने वाले नय को 'द्रव्यार्थिक-नय' कहते हैं, और भेद अथवा पर्याय (विशेष) को विषय करने वाले नय को 'पर्यायार्थिक-नय' कहते है। श्री जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का अनुसरण करने वाले सैद्धान्तिक विद्वान द्रव्यार्थिक-नय के चार भेद मानते है, और पर्यायार्थिक-नय के तीन भेद। परन्तु सिद्धसेन दिवाकर आदि तार्किकों के मतानुयायी द्रव्यार्थिक के तीन भेद, और पर्यायार्थिक के चार भेद मानते है। द्रव्यार्थिक-नय का स्थान नित्य है, और पर्यायार्थिक-नय का अनित्य। द्रव्य से पर्याय सूक्ष्म है, क्योंकि एक ही द्रव्य मे अनन्त पर्याय हैं, अर्थात्—अनादि अनन्त पर्यायो के समूह का नाम ही द्रव्य है।

पर्याय दो प्रकार की होती है—(क) द्रव्य-पर्याय, और (ख) गुण-पर्याय। द्रव्यो की पर्याय भी दो प्रकार की होती है—(क) स्वाभाविक, और (ख) वैभाविक। यही क्रम गुणो की पर्याय का भी है। इसका सक्षिप्त विवरण इस

प्रकार से है—

जीव की भव-पर्याय वैभाविक है, और सिद्धत्व-पर्याय स्वाभाविक। यह है—जीव-द्रव्य की पर्याय।

तीन अज्ञान गुण—वैभाविक पर्याय है, और पाँच ज्ञान—स्वाभाविक पर्याय है। कषायात्मा और योगात्मा वैभाविक पर्याय है। शेष आत्माएँ—स्वाभाविक। औदयिक भाव की परिणति—वैभाविक पर्याय है, और औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव की परिणति—स्वाभाविक पर्याय है।

दुःखानुभव तथा भौतिक सुखानुभव दोनो ही वैभाविक पर्याय है, और आध्यात्मिक सुख—स्वाभाविक। ये सभी पर्याय जीव-द्रव्य के गुणो की है।

पुद्गलास्तिकाय की पर्याय दो प्रकार होती हैं, जैसे—(क) विश्रसा, तथा (ख) प्रयोगज। विश्रसा का अर्थ है—स्वय, अर्थात्—स्वाभाविक रूप से पर्याय पलटना। प्रयोगज का अर्थ है—जीव की वैभाविक पर्याय के साथ-साथ जो पुद्गल परिवर्तित होता है, अर्थात्—एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक यावन्मात्र जीव है, वे सब वैभाविक पर्याय वाले हैं। उनके द्वारा पुद्गलो मे जो परिवर्तन होता है, वह पुद्गल की प्रयोगज पर्याय कहलाती है। उदाहरण के रूप मे लीजिए—

जितनी भी धातुएँ है—रत्न, पाषाण, एव मणि आदि, वे सब पृथ्वीकाय के शरीर है। यदि पृथ्वी-कायिक जीवो का अस्तित्व न होता, तो उपर्युक्त वस्तुओ का बिल्कुल ही अभाव होता।

इसी प्रकार बीज, अकुर, पत्र, पुष्प, फल, वृक्ष, काष्ठ आदि वनस्पति-कायिक जीवो के प्रयोगज पर्याय है। सीप, शख, मोती, रेशम, मणि, मधु, विष, शरीर एव शरीर-गत धातु तथा जितनी भी उपधातुएँ है, वे सभी त्रस प्राणियो के द्वारा परिवर्तित की हुई पुद्गल पर्याय है, जिन्हे हम प्रयोगज पर्याय कहते है।

एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सयोग, विभाग आदि पुद्गल-द्रव्य की पर्याय कहलाती है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, तथा इनकी षड् गुण हानि-वृद्धि गुण-पर्याय है। पर्याय की अवस्थिति वर्त्तमान मे ही होती है, भूत और भविष्यत् काल मे तो केवल द्रव्य ही रहता है। ऋजुसूत्र-नय क्षणिक-वाद मे विश्वास रखता है, इसलिए वह प्रत्येक वस्तु को अस्थायी मानता है।

प्रश्न—बौद्ध-दर्शन क्षणिक-वाद को मानता है, और प्रस्तुत नय भी वर्त्तमान काल मे होने वाली पर्याय को ही मानता है, भूत और भविष्यत् को नही मानता, तो इन दोनो मे क्या अन्तर है?

उत्तर—क्षणिकवादी बौद्ध-दर्शन, द्रव्य की सत्ता मानने से बिल्कुल इन्कार करता है, और केवल पर्याय को ही अपने दृष्टिकोण मे रखता है, किन्तु ऋजुसूत्र-नय, वस्तु की सत्ता का अपलाप नही करता, बल्कि उसे गौण मानता है, और पर्याय को मुख्य। यही दोनो मे अन्तर है। अतीत काल की पर्याय ध्वसाभाव मे सम्मिलित हो गई, और भविष्यत् की पर्याय प्रागभाव मे गर्भित है। तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान मे

उक्त दोनो का सद्भाव नही। जिसका वर्त्त मान मे सद्भाव नही है, उसका ग्रहण भी कैसे किया जा सकता है।

प्रश्न—सूत्र मे परमाणु-गत वर्ण, गध, रस तथा स्पर्श का वर्णन तो पर्याप्त मिलता है, परन्तु इस विषय मे कतिपय आचार्यो की धारणाएँ ऐसी चली आ रही है कि वर्त्तमान कालिक परमाणु मे जो वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श है, वे सदा काल-भावी है। उन गुणो मे कोई परिवर्तन नही होता है।

जो वर्त्तमान काल मे जघन्य-गुण काला है, वह सदैव ही जघन्य-गुण काला रहेगा, और जो उत्कृष्ट-गुण काला है, वह उत्कृष्ट-गुण काला ही रहेगा। जघन्य-गुणी—उत्कृष्ट गुणी नही बन सकता, और उत्कृष्ट गुणी—जघन्य गुणी नही बन सकता।

कतिपय आचार्यो की धारणाएँ उपर्युक्त मान्यता के बिल्कुल विरुद्ध हैं। उनका अभिमत है कि परमाणु मे जो वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वर्तमान काल मे है, कालान्तर मे वे अन्य वर्ण, गन्ध, रस, तथा स्पर्श के रूप मे परिणत हो जाते है। जो जघन्य-गुण काला है, वह कभी उत्कृष्ट-गुण काला भी हो सकता है। और जो उत्कृष्ट-गुणकाला है, वह कालान्तर मे जघन्य-गुण काला भी हो सकता है। यही बात गन्ध, रस, तथा स्पर्श के विषय मे भी है।

प्रश्न—इन दोनो परम्पराओ मे कौन सी धारणा आगम-सम्मत है?

उत्तर—जैन-धर्म अनेकान्तवादी है। विश्व मे बडे से

बडा और छोटे से छोटा ऐसा कोई पदार्थ नही है, जिस पर अनेकान्त-वाद की अमिट छाप न लगी हो, अर्थात्—सकल पदार्थ पर अनेकान्त-वाद का अनुशासन अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल पर्यन्त रहेगा।—अनेकान्त-वाद पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बतलाता है। पदार्थ का जैसा स्वरूप है, उसका वैसा ही प्रतिपादन करने वाला है। समय क्रम के अनुसार जो घडी सूर्य का अनुसरण करती है, वही घडी ठीक मानी जाती है। सूर्य का अनुसरण तो घडी ही करती है, न कि सूर्य घडी का। क्योकि मनुष्य-कृत यत्र होने के कारण घडी रुक भी सकती है और घडी की सूई आगे-पीछे भी की जा सकती है, किन्तु इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि घडी रुक गई तो सूर्य भी रुक जाएगा और घडी की सूई को आगे-पीछे करने से सूर्य भी आगे-पीछे हो जाएगा।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो घडी सूर्य के अनुकूल चलती है, वही घडी जनता के लिए प्रामाणिक सिद्ध हो सकती है। फिर उपचार से हम यह भी कह सकते है कि सूर्य ठीक घडी के अनुसार ही चलता है। बस, इसी का नाम अनेकान्त-वाद है और जो विचार-धारा ठीक वस्तु-तत्त्व का अनुसरण करती है, वही विचार पद्धति अनेकान्त-वाद है। जो मनुष्य अपनी घडी की सूई को पीछे हटाता है या आगे बढाता है अथवा घडी को रोकता है, इस आशय से कि सूर्य भी विलम्ब से उदय हो या जल्दी उदय हो, अथवा कुछ घटे के लिए सूर्य भी रुक जाए, तो ऐसा समझना मिथ्यात्व है। मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति पदार्थो पर अपने बनाए हुए

सिद्धान्तो को मुहर छाप लगाना चाहता है, अर्थात् सभी पदार्थ मेरे ही अनुशासन मे चले, पर ऐसा होना असम्भव है। वास्तव मे पाँच और पाँच दश कहना प्रामाणिक है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति गणितानभिज्ञ है, और वह पाँच और पाच को 'नौ' या 'ग्यारह' कहे, तो वह अनभिज्ञो मे भले ही प्रतिष्ठा प्राप्त करले, किन्तु उसका कथन तीनो काल मे गलत ही रहेगा, ऐसा विशेषज्ञो का अभिमत है। बस, इसी का नाम एकान्त-वाद या असम्यग्वाद है।

जैन-दर्शन प्रत्येक पदार्थ मे तीन अवस्थाएँ मानता है। जैसे —द्रव्य, गुण, और पर्याय। द्रव्य और गुण ये दो तो स्थायी है, किन्तु पर्याय परिणमनशील है। पर्याय द्रव्य की भी होती है, और गुण की भी। द्रव्य और गुण को छोडकर पर्याय कोई अलग पदार्थ नही है। जैन-दर्शन, वैशेषिक दर्शन की भाँति परमाणु को ऐसा नही मानता कि—वह सदा काल पृथ्वी-रूप ही है, जल-रूप ही है, तेजोरूप ही है या वायु-रूप ही है, अथवा द्व्यणुकादि-उत्पत्ति काल मे वह परमाणु क्षण मात्र निर्गुण भी बन जाता है।

जैन-दर्शन तो परमाणु को परिवर्तनशील ही मानता है, अर्थात्—एक परमाणु मे पाँच वर्णो मे से एक वर्ण, दो गन्धो मे से एक गन्ध पाँच रसो मे से एक रस, तथा आठ स्पर्शो मे से दो स्पर्श होते है। शीत-रूक्ष या उष्ण-रूक्ष, तथा शीत-स्निग्ध या उष्ण-स्निग्ध, इन चार विकल्पो मे से कोई-सा भी स्पर्श-विकल्प पाया जा सकता है, परन्तु कर्कश या मृदु, और हल्का या भारी ये चार स्पर्श परमाणु मे नही पाए जाते है।

वर्तमान मे यदि परमाणु काला है, तो वह कालान्तर मे सफेद, लाल तथा पीले रूप मे भी परिणत हो सकता है। दुर्गन्ध, सुगन्ध के रूप मे और सुगन्ध दुर्गन्ध के रूप मे परिणत हो सकता है। जिसका रस मीठा है, वह खट्टे रूप मे, कटुक रूप मे, तथा तिक्त रूप मे परिणत हो सकता है। जो शीत-रूक्ष-स्पर्श वाला है, वह कालान्तर मे उष्ण-स्निग्ध के रूप मे भी परिणत हो सकता है। इसी प्रकार जो जघन्य-गुण उष्ण-स्निग्ध है, वह कालान्तर मे उत्कृष्ट-गुण उष्ण-स्निग्ध भी हो सकता है। और जो उत्कृष्ट-गुण उष्ण-स्निग्ध है, वह जघन्य गुण-उष्ण-स्निग्ध स्पर्श वाला भी हो सकता है। क्योकि व्याख्या-प्रज्ञप्ति मे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वय भगवान् ने प्रतिपादन किया है कि—"परमाणु पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है, और पर्याय से अशाश्वत है, अर्थात्—द्रव्य-पर्याय और गुण-पर्याय दोनो ही अशाश्वत है। क्योकि पर्याय उत्पाद और व्यय पर निर्भर है। द्रव्य और गुण ये दोनो ध्रौव्य पर निर्भर है। ध्रौव्य सदा-शाश्वत है, और उत्पाद तथा व्यय ये दोनो सदा अशाश्वत है'।

परमाणु मे द्रव्य-पर्याय और गुण-पर्याय अनन्त है। उनमे सख्यात पर्यायो का आविर्भाव रहता है, और शेष अनन्त पर्यायो का तिरोभाव। द्रव्य की सत्ता का सर्वथा निषेध करके केवल पर्याय मात्र को ही मानना, यह 'ऋजु-सूत्र नयाभास' है।'
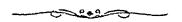
ऋजु-सूत्र-नय

एकस्मिन् समये वस्तु-
पर्याय यस्तु पश्यति ।
ऋजु-सूत्रो भवेत् सूक्ष्म
स्थूल स्थूलार्थ-गोचर ॥

—नय-चक्र

ऋजु सूत्र नय दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म ऋजु सूत्र और स्थूल ऋजु सूत्र। जो मात्र एक समय की ही पर्याय को ग्रहण करता है, वह सूक्ष्म ऋजु सूत्र है। जो स्थूल द्रव्य-पर्याय को ग्रहण करता है, वह स्थूल ऋजु सूत्र है।

शब्द-नय

कालादि-भेदेन ध्वनेरर्थ-भेदं
प्रति-पद्यमानः शब्दः

— प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ७–३२,

अर्थं शब्द-नयोऽनेकैः, पर्यायैरेकमेव च ।
मन्यते कुम्भ-कलश-घटाद्येकार्थ-वाचकाः ॥

— नय कर्णिका, १४

"शब्द-नय अनेक पर्याय, अर्थात्—अनेक शब्दो द्वारा सूचित वाच्यार्थ को एक ही पदार्थ समझता है, यथा—कुम्भ, कलश और घट आदि शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं ।"

: ११ :

शब्द-नय

'ऋजुसूत्र-नय' विषयक वक्तव्य समाप्त करके अध्यापक ने छात्रो को शब्द नय का विवेचन करने के लिए प्रेरित किया। तदनुसार छात्रो ने अपने-अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा कि—"शप् आक्रोशे, शपनमाह्वान मिति शब्द ।"—१

अर्थात्—शप् धातु से 'शब्द' बनता है। अपने अभिप्राय को दूसरे के सामने व्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन 'शब्द' ही है। अभिप्राय-पूर्वक शब्द का प्रयोग समष्टि मे सीखा जाता है, व्यष्टि मे नही। शब्द के दो भेद है—

(क) ध्वन्यात्मक, (ख) और वर्णात्मक।

(क) ध्वन्यात्मक—जैसे टैलीग्राफ की टक्-टक् घटी का

१—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

बजना, घडी का अलार्म और मोटर का हॉर्निङ्ग, आदि विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ, इसे अनक्षर-श्रुत भी कहते है।

(ख) 'वर्णात्मक-शब्द' अथवा 'अक्षर-श्रुत भाषा-विशेष कहलाता है। वस्तुत शब्द-नय का साम्राज्य अक्षर-श्रुत पर निर्भर है। अक्षर-श्रुत मे भी ऋजुसूत्र-नय से शब्द-नय का क्षेत्र बहुत कुछ सीमित है। ऋजुसूत्र-नय लिंग-भेद से अर्थ मे भेद नही मानता। जैसे—तट, तटी, तटम्। इन तीनो वाचको का वाच्य एक ही है, किन्तु शब्द-नय लिग-भेद से अर्थ-भेद मानता है। भाव-निक्षेप के विना नाम, स्थापना तथा द्रव्य-निक्षेप को शब्द-नय स्वीकार नही करता, क्योकि उपर्युक्त तीनो निक्षेप भाव-निक्षेप से भिन्न क्षेत्र मे भी पाए जा सकते है। किन्तु भाव-निक्षेप के अन्तर्गत जो नाम, स्थापना और द्रव्य-निक्षेप है, उन्हे कथचित् स्वीकार कर लेता है। जैसे—भाव तीर्थङ्कर मे नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीनो निक्षेप गर्भित हो जाते है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय, यह एक द्रव्य-विशेष का वाचक है, यह 'नाम-निक्षेप' हुआ। उसका आकार लोकाकाश जितना है, यह 'स्थापना-निक्षेप' हुआ। द्रव्य होने के नाते 'द्रव्य-निक्षेप' भी है, और गति-धर्म होने मे 'भाव-निक्षेप' तो है ही। इस प्रकार शब्द-नय मे भी चारो निक्षेप पाए जा सकते है, किन्तु भाव-निक्षेप-विहीन, आदि के तीन निक्षेप शब्द-नय को सर्वथा अमान्य है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"शपति वाऽऽह्वयतीति शब्द.।"—१

१—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

अर्थात्—जिससे किसी को बुलाया जाए, या किसी सकेत के द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त किया जाए, वह 'शब्द' कहलाता है। वैसे तो बधिर तथा मूक भी अपनी चेष्टाओ के द्वारा अपने भाव दूसरे के समक्ष रख सकता है, फिर भी शब्दो के द्वारा जितने स्पष्ट रूप मे अर्थ व्यक्त किया जा सकता है, उतने स्पष्ट रूप मे अन्य किसी चेष्टा के द्वारा नही किया जा सकता है। शब्दो के रूप मे श्रुत-ज्ञान ही परिणत हो सकता है, शेष-ज्ञान नही। शेष ज्ञान तो सदैव अर्थ-रूप मे ही रहते है। शब्द-शास्त्र का सूत्रकार 'शब्द-नय' है। अगले दो नय भी शब्द-नय कहलाते है।

शब्द नित्य है, या अनित्य ? इस प्रश्न का उत्तर सप्त-भगी के तीसरे भग से, अर्थात्—नित्यानित्य से दिया जा सकता है। वस्तुत शब्द द्रव्य से नित्य है, और पर्याय से अनित्य है।

महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से आगम रूप मे वर्णात्मक शब्द अनादि अनन्त है, किन्तु भरत-क्षेत्र एव ऐरावत-क्षेत्र की अपेक्षा से सादि-सान्त है। यह नय शब्दो की गहराई मे बहुत कुछ उतर जाता है। जैसे कोई आगम-धर श्रुत-ज्ञानी यदि उपयोग-पूर्वक किसी आगम का स्वाध्याय कर रहे हो, तो उच्चारित किये जाने वाले शब्द को आगम मानता है, और उच्चारण करने वाले को आगम-धर श्रुत-ज्ञानी मानता है। यदि उपयोग-पूर्वक उच्चारण नही कर रहे हो, तो उच्चार्यमाण शब्द को न आगम ही मानता है, और न उच्चारण करने वाले को आगम-धर ही मानता है। यह

शक्ति भी अपना अस्तित्व अलग रखती हो, वह 'योग-रूढ' कहलाता है , यथा—पकज । यह शब्द 'पक' से उत्पन्न होने वाले कर्तृत्व रूप अर्थ का बोधक है । समुदाय शक्ति के साथ रूढ होने से पद्म का बोधक है, क्योकि पक से तो कृमि आदि की उत्पत्ति भी होती है । किन्तु पकज पद्म के लिए ही रूढ है, अन्य के लिए नही । इसी प्रकार चन्द्रहास, जिसकी चमक चन्द्रमा की तरह हो, वह चन्द्रहास है । किन्तु यह शब्द खड्ग के लिए ही 'रूढ' है ।

यौगिक रूढ—जहाँ अवयव अर्थ और रूढ अर्थ, दोनो का ही स्वतन्त्रता पूर्वक बोध हो सके, वह शब्द 'यौगिक रूढ' कहलाता है । जैसे—उद्भिद् (उद्भेदन-कर्त्ता) तरू-गुल्म आदि का बोधक है, और याग-विशेष का भी । 'ऊर्ध्व भिनत्तीत्युद्भिद्', यहाँ अवयव शक्ति से तरु-गुल्म आदि मे शक्ति निहित है, और समुदाय शक्ति से याग विशेष भी हो जाता है ।

यदि किसी व्यक्ति-विशेष का नाम पवन है, तो कोशो मे वायु के जितने भी पर्याय-वाचक शब्द है, उनसे उस व्यक्ति विशेष को नही बुलाया जा सकता है, अर्थात्—वायु के समस्त वाचक उस पवन रूप व्यक्ति-विशेष के नाम नही है । अत यह नय नाम-निक्षेप को स्वीकार नही करता, और भाव के विना स्थापना एव द्रव्य-निक्षेप भी सर्वथा अमान्य है ।

पंचम छात्र

पाँचवे छात्र ने कहा—"शब्दाद् व्याकरणात्प्रकृति-प्रत्ययद्वारेण सिद्ध शब्द ।"

अर्थात्—'व्याकरण से प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न शब्द 'शब्द-नय' कहलाता है।"

शब्द-शक्ति आठ प्रकार से जानी जा सकती है। जैसे—

(१) व्याकरण से—पूर्वकृदन्त, उणादि, उतर-कृदन्त, तद्धित, समास, आर्ष, निपातन, मयूरव्यसक आदि आकृतिगण, और निरुक्त आदि से शब्दो की व्युत्पत्ति होती है। तिङ् प्रत्ययान्त से धातु, क्रिया रूप मे परिणत हो जाती है।

"द्वितीया कर्मणि ज्ञेया कर्त्तरि प्रथमा यदा।
उक्तकर्तृ प्रयोगोऽय न तदा वाक् प्रयुज्यते॥
तृतीया कर्त्तरि यदा कर्मणि प्रथमा तदा।
उक्त-कर्म प्रयोगोऽय न तदा परस्मैपदम्॥

इस प्रकार शब्द-शक्ति का विस्तृत परिचय व्याकरण से जाना जा सकता है।

(२) उपमान से—"बाले य मदए मूढे बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि।'

अर्थात्—धर्म कार्यों मे आलस्य करने वाला, मोह-ग्रस्त अज्ञानी जीव बलगम मे मक्खी की तरह ससार मे फँस जाता है।—१

"अह सति सुव्वया साहू जे तरति अतर वणिया व।"

अर्थात्—"जो निरति चार महाव्रतो के पालने वाले है, वे साधु ही विषय रूपी विशाल ससार समुद्र को पार करते

१—उत्तराध्ययन, ८-५,

हैं। जैसे—व्यापारी लोग जहाज आदि साधनो के द्वारा दुष्तर और अथाह समुद्र को पार करते है।"—१

"रागाउरे से जह वा पयगे आलोयलोले समुवेइ मच्चु।"

जिस प्रकार पतगिया (मरवाया) दीपक की लौ पर गिरकर अनुरागवश मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो इष्ट-रूप मे आसक्ति रखता है, वह भी अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।—२

"कुम्मो इव गुत्तिन्दिया, विहग इव विप्पमुक्का।"

अर्थात्— साधक कच्छप की तरह गुप्त-इन्द्रिय होकर तथा पक्षी की तरह वन्धन रहित होकर विचरे।

"गो-सरिसो गवय", गौ के सदृश गवय होता है।

इस प्रकार शव्द-शक्ति उपमान के द्वारा जानी जा सकती है। कभी उपमान से उपमेय का ज्ञान होता है, और कभी उपमेय से उपमान का परिचय प्राप्त होता है।

(३) कोश से—अनेक शव्दो का एक अर्थ, और एक शव्द के अनेक अर्थ, तथा लिग-भेद आदि शव्द-शक्ति कोश से जानी जा सकती है।

(४) आप्त-वाक्य से—'माणुस्स खु सुदुल्लह।' "विगिंच कम्मुणो हेउ जस मचिणु खतिए। सरीर पाढव हिच्चा, उड्ढ पक्कमए दिस' आदि परोक्ष तत्त्व वोधक आप्त-वाक्य ही हैं। आप्त का अर्थ—जिन, अरिहन्त, केवली है, उनका

१—उत्तराध्ययन ८ ६,

२—उत्तराध्ययन ३२ २४,

वाक्य आप्त-वाक्य कहलाता है, अर्थात्—आगम प्रमाण इसी वाक्य मे अन्तर्भूत है ।

(५) **व्यवहार से**—शब्द-शक्ति व्यवहार से भी जानी जा सकती है । पिता अपने बडे लड़के से कहता है कि—घडा ले आ ! लडका ले आया । पास ही एक छोटे बच्चे ने भी वह शब्द सुना, और लाया हुआ घडा भी देखा, तब वह जान लेता है कि इस चीज को घडा कहते है । समीप लाना, यह क्रिया है । इन व्यावहारिक बातो और पदार्थो का ज्ञान नित्य प्रति व्यवहार मे आए हुए शब्दो के ज्ञान से होजाता है ।

(६) **वाक्य शेष से**—"पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयतिये कूड-कहावणे वा । राढामणी वेरुलियपगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएमु ।"—१

"जिस प्रकार खाली मुट्ठी और खोटा सिक्का असार है, उसी प्रकार गुण-हीन साधु भी असार है । जिस प्रकार काच-मणि वैडुर्य-मणि की तरह प्रकाशमान होती है, परन्तु जानकार पुरुषो के सामने निश्चय ही वह अल्प मूल्य वाली हो जाती है, उसी प्रकार द्रव्य-लिगी साधु भी विवेकी पुरुषो मे सराहनीय नही बन सकता ।"

इस गाथा के चौथे चरण से पूर्वोक्त तीन चरणो का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, अन्यथा उनका आशय समझना अत्यन्त कठिन था ।

१—उत्तराध्ययन, २०—४२,

(७) **विवृत्ति से**—किसी व्याख्यान-दाता ने अपने व्याख्यान मे कहा—आत्मोन्नत्ति, आत्म-विकास, तथा आत्मोत्क्रान्ति करना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है, अर्थात्—किसी शब्द का खुलासा करने के लिए अनेक पर्याय-वाचक शब्दो का प्रयोग करना—'विवृत्ति' कहलाता है।

(८) **सान्निध्य से**—सिद्धो की सन्निकटता से शिला का नाम भी सिद्ध-शिला पड गया है। सिद्ध-शिला का नाम ही सान्निध्य का द्योतक है।

इस प्रकार आठ कारणो से शब्द-शक्ति का ग्रहण होता है। इनके बिना शब्द-नय का अनुशासन नही चल सकता। अस्तु, ये हैं—शब्द-नय के मूल-भूत कारण।

षष्ठ छात्र—

छठे छात्र ने कहा—"यथार्थाभिधान शब्द" (भाव-मात्राभिधानप्रयोजकोऽध्यवसायविशेष), —१ अर्थात्—भाव-निक्षेप के अन्तर्गत अर्थ-कथन करना 'शब्द-नय' कहलाता है। शब्द-नय का प्रयोजन है—शब्द के द्वारा यथार्थ अर्थ प्रकट करना। सत्य-भाषा और व्यवहार-भाषा, इन्ही दो भाषाओ पर शब्द-नय का पूरा अनुशासन है। शब्द-नय—जाति-वाचक, गुण-वाचक, द्रव्य-वाचक और क्रिया-वाचक शब्दो को ही अपने काम मे लाता है, व्यक्ति-वाचक सज्ञाओ को नही। यह है—शब्द-नय का बाह्य उपकरण। आभ्यन्तरिक उपकरण है—श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य अध्यवसाय विशेष।

१—नय सार

शब्द-प्रधान होने से इस नय को 'शब्द-नय' कहते है। पद-ज्ञान शब्द-बोध का कारण है। पदार्थ-ज्ञान करण है। व्यापारवान् असाधारण कारण को करण कहते हैं जैसे—दण्ड, चक्र और चीवर, ये तीनो घट के प्रति असाधारण कारण है, किन्तु जब ये तीनो यथा-समय यथा-क्रम क्रिया कर रहे हो, तब ये ही कारण, करण कहलाते है। पद-ज्ञान यदि कारण है, तो पदार्थ-ज्ञान करण है। वाक्यार्थ ज्ञान को शाब्द-बोध कहते है। शाब्द-बोध का लक्षण है—

"एकपदार्थेऽपर-पदार्थ-ससर्ग-विषयक ज्ञान शाब्दबोध" अर्थात्—शाब्द-बोध मे चार मुख्य कारण हैं, जैसे—

(क) आसत्ति-ज्ञान, (ख) योग्यता-ज्ञान, (ग) आकाक्षा-ज्ञान, और (घ) तात्पर्य-ज्ञान।

आसत्ति-ज्ञान—इसका अर्थ है, पदो की सन्निकटता। जैसे—"भगवान् ने कल्याणकारिणी देशना दी"—यदि इन्ही पदो मे से एक-एक पद प्रहर-प्रहर मे उच्चारण करेगे, तो शाब्द-वोध नही हो सकता।

योग्यता-ज्ञान—इसका अर्थ है—एक पदार्थ मे अन्य पदार्थों का सम्बन्ध होना। जैसे–सवर- पूर्वक निर्जरा ही आत्म-प्रगति मे सहायक है। इससे विपरीत यदि योग्यता का ज्ञान न हो तो—निर्ग्रंथ रात्रि को आहार करता है,' 'श्रावक शिकार खेलता है', 'किसान अग्नि सीचता है', आदि वाक्य योग्यता-ज्ञान विहीन है। अत. ये उपर्युक्त वाक्य शाब्द-वोध मे कारण नही है।

आकांक्षा-ज्ञान—इसका अर्थ है कि—जिस पद के

विना अर्थ स्मरण न हो सके, उस पद की आकाक्षा रहती है। जैसे—कारक-पदो मे क्रिया पद की आकाक्षा रहती है, और क्रिया-पद मे कारक-पद की। एक पाठक किसी पुस्तक को पढ रहा है। ज्यो-ज्यो पढता है, त्यो-त्यो एक पद से दूसरे पद की, फिर तीसरे पद की आकॉक्षा होती है। कर्त्ता और कर्तृ-विशेषण, कर्म और कर्म-विशेषण, करण और करण-विशेषण, क्रिया और क्रिया-विशेषण आदि एक पद दूसरे पद की आकाक्षा बढाता है। यदि एक पद थोडी देर के लिये ज्ञात न हो सके, तो बुद्धिमान पाठक उस पद की खोज के लिये व्याकुल हो जाता है। यही 'आकाक्षा-ज्ञान' का फल है। इसके विपरीत हाथी, घोडा, बैल आदि पद आकांक्षा-विहीन है।

तात्पर्य-ज्ञान—इसका अर्थ है—बोलने वाले का अभिप्राय। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर प्रसगानुसार अनेकार्थ वाचक शब्द का विवक्षित अर्थ करना। जैसे—प्रयोजक कर्त्ता ने कहा—'सैन्धव ले आओ'! तव प्रयोज्य कर्त्ता समयानुसार वक्ता के तात्पर्य का विचार करता है, कि यह रसोई का समय है, या सवारी का ? सैन्धव नमक का वाचक तो अवश्य है, किन्तु साथ ही घोडे का भी वाचक है। यदि तात्पर्य-ज्ञान शाब्द-वोध मे कारण न हो, तो रसोई के समय घोडा ले आए, और सवारी के समय नमक।

उपर्युक्त चारो साधन शुद्ध होने पर ही वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। यह 'शब्द-नय' का मुख्य प्रयोजन है।

सप्तम छात्र—

सातवे छात्र ने कहा—"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्ण णओ सद्दो"—१

अर्थात्—जो विचार शब्द-प्रधान होता हुआ, शाब्दिक धर्मों की ओर झुककर तदनुसार ही अर्थ-भेद की कल्पना करता है, वही वस्तुत शब्द-नय कहलाता है। यह नय ऋजु सूत्र से विशुद्धतर है। शब्द-शक्ति तीन वृत्तियो मे विभक्त है। जैसे—(क) अभिधा वृत्ति, (ख) लक्षणा वृत्ति, और (ग) व्यजना वृत्ति।

वाक्यार्थ को जानने के लिए दो उपाय काम मे लाए जाते है—मुख्य और अमुख्य। इनमे मुख्य-शक्ति 'अभिधा' कहलाती है। जहाँ शब्द का सम्बन्ध सीधा अर्थ के साथ हो, वह अभिधा कहलाती है, अथवा साकेतिक अर्थ बतलाने वाली शब्द-शक्ति को अभिधा कहते है। सकेत—जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया मे ग्रहण किया जाता है, व्यक्ति में नही। क्योकि व्यक्ति अनन्त है। द्रव्य से तात्पर्य सज्ञा-विशेष से है। सज्ञा के दो भेद है—(क) चिरतनी, और (ख) तद्भिन्ना। षट्-द्रव्यो के नाम अनादि होने से चिरतनी है। द्वितीय देवदत्त आदि एक-एक व्यक्ति। "देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो'–२ यह वाक्य अभिधा शक्ति के अन्तर्भूत है। आगमो मे अभिधा-वृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते है। जैसे–

१—अनुयोग द्वार,

२— दशवैकालिक १—१,

'दुम-पत्तए पडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एव मणुयाण जोविय, समय गोयम ! मा पमायए ।।'—१

जहाँ मुख्यार्थ मे अन्वय या तात्पर्य की निष्पत्ति न हो सके, वहाँ अमुख्य व्यापार ग्रहण किया जाता है । इसी को 'लक्षणा-वृत्ति ' कहते हैं । जैसे-- गगाया घोष '—गगा मे कुटीर है । यहाँ गगा के मुख्य अर्थ की उपेक्षा करके—गगा के तट पर कुटीर है,' यह अर्थ लक्षणा से निकलता है । और 'कलिग साहसिक —कलिग साहसिक है । यहाँ लक्षणा से अर्थ निकलता है कि 'कलिग-देशवासी साहसिक हैं' । वगो भीरु ' अर्थात्—वग देश डरपोक है ।

'द्वादशाग-वाणी मोक्ष निश्रेणी है । यहाँ निश्रेणी का सीढी अर्थ न लेकर—'द्वादशाग-वाणी मे मोक्ष प्राप्त करने के अमोघ उपाय है'—यह अर्थ लक्षणा से निकलता है । और 'कुशान् दर्भान् लाति गृह्णातीति कुशल ', अर्थात्—'कुशग्राही को कुशल कहते है,' इस अर्थ को न लेकर --'कुशग्राही की तरह चतुर', यह अर्थ लक्षणा से फलित होता है । व्यवहार मे भी ऐसा ही कहते है कि—'जरा रास्ते मे बात कर' । इसका 'जरा सभ्यता से वात कर ! यह अर्थ फलित होता है । और 'उसने मेरी नाक काट ली,' तथा 'ऐसा करने मे मेरी नाक रह सकती है । 'यहाँ नाक का अर्थ लक्षणा मे 'प्रतिष्ठा' का होता है । ब्राह्मी और सुन्दरी ध्यानस्थ वाहुवली को कहतीहै—
"वन्धव गज थकी उतरो, गज चढ्या केवल नही होसी रे ।"

१—उत्तराध्ययन, १०–१,

यहाँ हाथी का अर्थ—लक्षणा से 'अभिमान' किया जाता है, अर्थात्—अभिमान से उतर कर विनय धारण करो।

केशोकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से प्रश्न पूछते हुए कहा—

'अय साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
जसि गोयम! आरूढो, कह तेण न हीरसि ॥'—१

आप साहसिक भीम तथा दुष्ट घोडे पर सवार हो रहे हो, फिर वह आपको उन्मार्ग मे क्यो नही ले जाता है?

यह प्रश्न लक्षणा से किया गया है। गौतम स्वामी ने उत्तर भी लक्षणा से ही दिया है।" जैसे—

"पधावन्त निगिण्हामि, सुयरस्सी-समाहिय।
न मे गच्छइ उम्मग्ग, मग्ग च पडिवज्जइ ॥"—२

मै दुष्ट घोडे को लगाम के द्वारा रोके रखता हूँ, अतः वह उन्मार्ग पर न जाकर मार्ग पर ही रहता है।

अब प्रश्न पैदा होता है—क्या गणधर भी घोडे की सवारी किया करते है? यहाँ अश्व-रूप मुख्य अर्थ न ग्रहण करके लक्षणा से दुष्ट अश्व-सदृश मन लिया है, जिसको श्रुत ज्ञान-रूपी लगाम से वश मे कर रखा है। इसलिए वह उन्मार्ग मे नही ले जाता है, यही अर्थ स्पष्ट होता है।

१—उत्तराध्ययन, २३–५५,

२—उत्तराध्ययन, २३–५६,

इसी प्रकार उन दोनो ही धर्म-धुरन्धर महामुनियो के वीच मे लक्षणा-वृत्ति से ही प्रश्नोत्तर हुए।

"वतासी पुरिसो राय, न सो होइ पससिओ।"

"वत नो पडियायइ जे स भिक्खू।"

जो वमन को ग्रहण नही करता है, वह भिक्षु है। अति बुभुक्षित मनुष्य भी जव वमन को ग्रहण नही करता, तव दूसरो की तो वात ही क्या ?

यहाँ वान्त का अर्थ लक्षणा से त्यक्त वस्तु है। अत अब यह अर्थ निकलता है कि—त्यक्त वस्तु का पुन सेवन करना ही वान्त-ग्रहण करना है। इस प्रकार सूत्रो मे लक्षणा के अनेक उदाहरण विद्यमान है।

व्यजना-वृत्ति दो प्रकार की होती है—(क) अभिधा-मूलक, और (ख) लक्षणा-मूलक।

(क) अभिधा-मूलक व्यंजना के उदाहरण—

(१) संयोग से—'सकेशरो हरि' 'सवज्रो हरि', 'सशंखचक्रो हरि।' यहाँ 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी केशर के सयोग से 'हरि' की सिह मे व्यजना की गई है। इसी प्रकार वज्र के सयोग से इन्द्र मे, और शख-चक्र के सयोग से वासुदेव मे समझनी चाहिए।

(२) विप्र-योग से—'अकेशरो हरि', 'अवज्रो हरि', 'अशंखचक्रो हरि'। इससे भी उन्ही पूर्वोक्त व्यक्तियो मे व्यजना समझनी चाहिए, अन्य मे नही। क्योकि 'यह सिह केशर से रहित है'—यह अर्थ निकलता है।

(३) **साहचर्य से**—'भीमार्जुनौ' पद से 'भीम' और 'अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी एक दूसरे के साहचर्य से कुन्ती के पुत्र ही लिए जाएँगे।

(४) **विरोधिता**—'कर्णार्जुनौ', से 'कर्ण' और 'अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी विरोध के कारण महाभारत के पात्र-विशेष मे ही व्यजना की गई है।

(५) **अर्थ से**—'जिन वन्दे भवच्छिदे'। यहाँ 'जिन' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी 'भवच्छिदे' इस पद से 'जिनेश्वर' मे ही व्यजना रहती है।

(६) **प्रकरण से**—'सर्व जानाति देव!' एक राजपुरुष राजा के सन्मुख कह रहा है कि—देव सब कुछ जानते है।' यहाँ 'देव' का अर्थ व्यजना से 'आप' समझा जाएगा।

(७) **लिंग (चिन्ह)**—'कुपितो मकर-ध्वज।' 'मकर-ध्वज' समुद्र का वाचक भी है, किन्तु यह अर्थ अभिमत नही है। यहाँ मकर-ध्वज, व्यजना से 'कामदेव' का वाचक है। 'मकर की ध्वजा' कामदेव का चिन्ह है। चिन्ह भी जाति और व्यक्ति मे विशेपता पैदा कर देता है।

(८) **सन्निधि से**—जैसे—'निर्ग्रन्थ धर्म'। धर्म के अनेक अर्थ होते हुए भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द के सम्बन्ध से यहाँ 'जैन-धर्म' ही अभिप्रेत है।

(९) **सामर्थ्य से**—'मधुना मत्त पिक।' यहाँ वसन्त

अपेक्षा चन्दन के बने कोयले मे सस्तापन आदि व्यङ्गार्थ का ज्ञान भी व्यजना से ही जाना जाता है।

मूल इङ्गाल-दोष मे भी दाहकत्व विद्यमान है। वह सयम और आत्म-गुणो को जलाकर भस्म कर देता है। जिस प्रकार बुझे हुए कोयले मे कालापन होता है, वैसे ही इङ्गाल-दोष भी स्वयं काला है जो कि उज्ज्वल सयम को भी कलकित करता है। जैसे बावन-शीर्ष-चन्दन का मूल्य अधिक होता है, और उसका कोयला बहुत सस्ता, वैसे ही सयम रूपी बावन-शीर्ष चन्दन को जलाकर इन्द्रिय-सुख रूपी कोयला बनाना है, यह अल्प मूल्य व्यङ्ग्यार्थ है।

साराश मे इगाल-दोप का यह अर्थ व्यजना-शक्ति से अभिव्यञ्जित होता है।—१

(३) धूम्र दोष—इस दोष पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) अभिधावृत्ति—'धूम' का अर्थ धुआँ है। "यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि रिति'—इस व्याप्ति वाक्य से यह जाना जाता है कि अग्नि के बिना धुआँ नही हो सकता। धुएँ मे अग्नि का होना नियमेन सिद्ध होता है। फिर चाहे धुआँ किसी रग का हो अथवा कैसे ही स्वभाव का हो, पर अन्तत वह धुआँ ही कहलाता है। उस धुआँ से

१—"जे ण निग्गथे वा निग्गथी वा फासुअ एसणिज्ज असण पाण स्वाइम साइम पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे आहारं आहारेइ, एस ण गोयमा! सइगाले पाणभोयणे।"

—भगवती सूत्र, शतक,७ उद्देश १,

भवन काला हो जाता है। अत वह एक प्रकार का धूम दोष है।

(ख) लक्षणा वृत्ति—जैन-परिभाषा के अनुसार 'खाद्य' और 'पेय' पदार्थ पर, या उस पदार्थ के बनाने वाले व्यक्ति पर जो साधक द्वेष तथा रोष करता है, अथवा घृणा और निन्दा करता हुआ आहार करता है, तो उससे साधक की आत्मा मलिन पड जाती है। अत उस अवस्था-विशेष को भी 'धूम-दोष' कहते है।

(ग) व्यंजना वृत्ति—धूम से आँखे पीडित हो जाती हैं, आँसू आने लग जाते है, श्वास रुकने लग जाता है, और चेहरा भी म्लान हो जाता है। इस प्रकार आँखो मे बहुत पीडा हो जाती है, और कुछ देर के लिए दीखना भी बन्द हो जाता है। कभी-कभी धुआँ के प्रकोप से त्रस प्राणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते है। इस सम्बन्ध मे समवायाङ्ग सूत्र मे भी कहा है कि—"यदि कोई त्रस-प्राणी को धूम से मारे तो वह महामोहनीय कर्म-बन्ध करता है।' अत यह सिद्ध होता है कि 'धूम'—मलिनत्व, पीडा आदि अनेक दोषो से युक्त है। इसी प्रकार 'धूम-दोष' भी ज्ञानात्मा दर्शनात्मा, उपयोगात्मा तथा चारित्रात्मा को मलिन करने वाला है।

अर्थात्—'धूम-दोष' से घातक कर्मो का तीव्र अनुभागबध होता है, और उन कर्मो की दीर्घ-स्थिति को बाधता है, इस दृष्टि से 'धूम-दोष' भी मलिनत्व तथा पीडा

आदि दोषो से युक्त है । इसलिए इन दोषो को भी 'धूम-दोष' के अन्तर्गत समझना चाहिए ।—१

(४) **जैन**—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—'जैन' का अर्थ होता है, 'विजयी के पद चिन्हो पर चलने वाला' अथवा 'विजयी को जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन' ।

(ख) **लक्षणा वृत्ति**—'जो अवधि-ज्ञानी, मन' पर्यव-ज्ञानी, और केवल-ज्ञानी जिन है, उन्हे जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन ।'

(ग) **व्यंजना वृत्ति**—'जो लक्षण, निक्षेप, नय, स्याद्वाद आदि से वस्तु-तत्त्व को जानता है, बन्ध तथा बन्ध के कारणो को जानकर त्यागता है, और सवर, निर्जरा तथा मोक्ष को उपादेय समझकर ग्रहण करता है, वास्तव मे वही 'जैन' कहलाने योग्य है ।

(५) **निर्ग्रन्थ**—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—'निर्ग्रन्थ' का अर्थ है—'निर्गतो ग्रन्थात् आभ्यन्तरबाह्यपरिग्रहाद् य स निर्ग्रन्थ '—यह जैन

१—"जे ण निग्गन्थे वा निग्गन्थी वा फासुअ एसणिज्ज असण पाण खाइम साइम पडिग्गाहित्ता महया अप्पतिय कोहकिलाम करेमाणे आहार आहारेइ, एस ण गोयमा सधूमे पाण भोयणे ।"

—भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देश्य १,

श्रमण के लिये रूढ है ।

(ख) **लक्षणा वृत्ति**—इसका प्रयोग 'आगम' व्यवहारी श्रमण के लिए किया जाता है, शेष व्यवहारियो के लिए नही ।

(ग) **व्यंजना वृत्ति**—ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थान-स्थित आत्मा को 'निर्ग्रन्थ' कहते है, दूसरो को नही ।

अध्यापक—

सातो छात्रो की व्याख्या को सुनने के बाद अध्यापक ने अपना विचार प्रस्तुत किया—'यद्यपि आप सब ने शब्द-नय' की व्याख्या यथाशक्य बहुत कुछ युक्ति-युक्त की है, तथापि जो आवश्यक कथन शेष है, उसी को स्पष्ट करने के लिए मुझे कुछ कहना है । दत्त-चित्त होकर सुनिए ।

बहुत से लोग लोक-प्रचलित शब्दो के अर्थ पुस्तको या शब्द-कोशो मे ढूँढते हैं, किन्तु उन्हे यह विचारना चाहिए, कि पुस्तको या शब्द-कोशो मे अर्थ कहाँ है ? पुस्तक या कोशो मे तो केवल पर्याय शब्द रहता है—अर्थ नही । अर्थ तो सृष्टि मे रहता है । सूत्रो के अक्षर पोथी मे मिल जाते है, किन्तु अर्थ को जीवन मे ही खोजना चाहिए ।

वस्तुत 'शब्द' बोधक है, और 'अर्थ' बोध्य । 'शब्द' वाचक है, और 'अर्थ' वाच्य । 'अर्थ' बतलाने का मुख्य साधन 'शब्द' है ।

शब्द-ज्ञान मे निमित्त कारण है 'स्मृत्ति' । इसी प्रकार स्मृत्ति का निमित्त कारण है 'तदावरण क्षयोपशम' । और

(ङ) 'धर्म से भ्रष्ट होकर जीव दुर्गति को प्राप्त करता है ।' यहाँ धर्म, 'अपादान' है ।

(च) 'स्वधर्म मे निधन भी श्रेष्ठ है, कामदेव श्रमणोपासक पर दारुण उपसर्ग होने पर भी वह 'स्वधर्म' मे दृढ रहा ।' यहाँ स्वधर्म 'अधिकरण' है ।

उपर्युक्त वाक्यो में कारक-भेद होने से 'धर्म' शब्द के अर्थों मे भी भेद हो गया है । यहाँ सर्वत्र कारक-भेद से अर्थ-भेद परिलक्षित है ।

(३) **लिंग-भेद**—लिग तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—(क) पु लिंग, (ख) स्त्री-लिंग, और (ग) नपुंसक लिंग । तदनुरूप शब्द भी तीनो लिंगो के अन्तर्गत हैं ।

शब्द-नय, पुल्लिग से जो वाच्यार्थ का बोध होता है, उसे स्त्री-लिंग से नही मानता । जैसे 'देव' से देवी का बोध नही होता । नपु सक लिंग से जो वाच्यार्थ का बोध होता है, उसे पुल्लिग से नही मानता, जैसे—'आम्र' कहने से फल का बोध होता है, वृक्ष का नही । पुल्लिग से वाच्यार्थ के बोध को, नपु सक लिग से नही मानता, जैसे—'मित्र' कहने से सूर्य का बोध होता है—सुहृद् का नही । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी स्वय समझ लेना ।

शब्द-नय मानता है कि कतिपय शब्द त्रिलिंगी भी होते हैं, किन्तु उनका अर्थ भिन्न-भिन्न है । जैसे—'कमल' यह मृग का वाचक है, 'कमला' यह लक्ष्मी का वाचक है, 'कमलं' यह फल का वाचक है, एव 'अमृत , अमृता, अमृतम्'—

इनका अर्थ क्रमश —देव, आमलकी, एव पीयूष आदि है। 'सम , समा, ममम्'—इनका अर्थ भी क्रमश —तुल्य, वर्ष, एव सर्व मे ग्रहण किया जाता है। 'शिव.' ग्रह-विशेष का वाचक है, 'शिव' भद्र एव कल्याण का वाचक है, 'शिवा' गोदडी का वाचक है। 'विश्वभर.' इन्द्र का पर्याय वाचक है, तो 'विश्वभरा' पृथ्वी का। 'मित्र ' सूर्य का पर्याय वाचक है, तो 'मित्र' सुहृद् का। 'मधु ' वसन्त का पर्याय वाचक है, तो 'मधु' शहद का। 'पीलु ' वृक्ष-विशेष का नाम है, तो 'पीलु' उसके फल का। 'नभा ' श्रावण मास का वाचक है, तो 'नभ ' गगन का। 'वसुदेव' अग्नि का वाचक है, तो 'वसु' धन व रत्न का। 'कारण' हेतु एव उपादान का वाचक है, तो 'कारणा' तीव्र वेदना का। इसी प्रकार नपु सक लिंगी 'सुमन '—श्रेष्ठ मन का वाचक है। 'सुमनस्' पुल्लिगी है, जोकि देव-पद का वाचक है। 'सुमनस्' स्त्री-लिंगी है, अत. वह पुष्प का वाचक है। सस्कृत भाषा मे वहुत-से ऐसे शब्द है, जिनका वाच्यार्थ एक है, किन्तु वाचक शब्द त्रिलिंगी है। जैसे कि—

"आकाश , द्यौ , नभ । कर्ण , श्रुति , श्रोत्रम् । स्वर्ग , द्यौ , त्रिविष्टपम् । दारा , भार्या, कलत्रम् । तट , तटी, तटम् । कपट , निकृति , शाठ्यम् । अनादर , तिरस्क्रिया, अवहेलनम् ।"

इस प्रकार 'शब्द-नय' लिग-भेद से वाच्यार्थ का भेद मानता है। चाहे एकार्थ-वाचक एक-लिगी सख्या मे कितने ही हो, शब्द-नय उनमे भेद नही मानता, जब कि 'ऋजुसूत्र-नय'

एक अर्थ के वाचक चाहे त्रिलिंगी हो, उनमे भेद मानता है।

(४) **संख्या-भेद**—शब्द-नय सख्या-भेद से वाच्यार्थ मे भेद मानता है, जैसे—'पुष्पम्' का अर्थ है—एक फूल। 'पुष्पे' का अर्थ है—दो फूल, तथा 'पुष्पाणि' का अर्थ है—बहुत से फूल।

इसी प्रकार 'सुमनस' स्त्री-लिगी नित्य बहु-वचनान्त है, जिसका प्रयोग अनेक फूलो के लिए किया जाता है, एक या दो फूलो के लिए नही।

एक स्त्री को दारा नही कहा जाता। यह शब्द पुंलिग है, जोकि नित्य बहु-वचनान्त है। बहुत-सी स्त्रियो के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'आप' यह शब्द स्त्री-लिंगी है, जोकि नित्य ही बहु-वचनान्त है, यह जल का वाचक है। जल के एक कण के लिए 'आप' शब्द का प्रयोग नही किया जाता। 'श्रावक, श्रावकौ, और श्रावका'—इन तीनो का वाच्यार्थ सख्या-भेद से भिन्न-भिन्न है।

(५) **पुरुष-भेद**—शब्द-नय पुरुष-भेद से वाच्यार्थ भेद मानता है, जैसे—प्रथम पुरुप, मध्यम पुरुप, और उत्तम पुरुप। 'ग्राम गच्छति, ग्राम गच्छसि, ग्राम गच्छामि'—इन तीनो मे पुरुष-भेद होने से वाच्यार्थ मे भेद हो जाता है, अथवा—

'एहि, मन्ये, रथेन यास्यसि, नहि यास्यति, यातस्ते पिता';
अथवा—

'एहि, मन्ये, ओदन भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः।'
"प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ।"

उपर्युक्त सूत्रो से जो पुरुष-व्यवस्था है, वह प्रहास मे ही समझना । यथार्थ कथन मे तो "एहि त्व मन्यसे, ओदन महं भोक्ष्ये, भुक्त सोऽतिथिभिरिति" आदि उदाहरण स्वय समझ लेना ।

(६) उपसर्ग-भेद—शब्द-नय उपसर्ग-भेद से भी वाच्यार्थ मे भेद मानता है । जैसे—

"अनुगच्छति, अवगच्छति, सगच्छते, निर्गच्छति, आगच्छति, उद्गच्छति–ये सब 'गम्' धातु के रूप हैं। हृञ् हरणे धातु के 'घञ्' प्रत्यय से बने हुए शब्द , जैसे—प्रहार, उपहार, संहार, विहार, निहार, परिहार, आहार, अपहार व्यवहार आदि । 'स्था' धातु से 'प्रस्थान, अनुष्ठान, सस्थान, उत्थान, अवस्थान, उपस्थित—इन सब के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं । 'डुकृञ् करेण' धातु से 'उपकार, अपकार, सस्कार, विकार, प्रकार, दुष्कर, दुष्कृत, आकार आदि ।

उपसर्ग-भेद से अर्थ मे भेद हो जाता है। यह नय नाम, स्थापना और द्रव्य-निक्षेप को नही मानता है, क्योकि इनसे कोई अर्थ सिद्ध नही हो सकता । अर्थ-क्रियाकारी होने से भाव-निक्षेप ही वस्तु है। अन्य सर्व निक्षेप खर-विषाण व्रत् अवस्तु हैं । 'पृथु–बुध्न-उदर-आकारादि से कलित' जल आहरण आदि क्रियाकारी घट रूप को ही भाव-घट

मानता है, शेष नाम आदि घट इस नय को स्वीकार नही, क्योकि यह नय शब्द-प्रधान है और चेष्टा लक्षण ही 'घट' शब्द का अर्थ है ।

नाम, स्थापना और द्रव्य-रूप घट नही है, यह प्रतिज्ञा है । जल आहरण आदि जो उसके कार्य है, वे कार्य उनसे नही हो सकते, यह हेतु है। पट आदि की तरह, यह दृष्टान्त है। 'भाव के सिवाय नाम आदि निक्षेप 'रूप घट, प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दोनो से असिद्ध है।

ऋजुसूत्र-नय को सम्बोधित करके शब्द-नय कहता है—'जो कुम्भ नष्ट हो चुका है और जो अभी तक बना ही नही, वह घट जब कि तुम्हे अभीष्ट नही है, क्योकि उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, तब नाम आदि घट को तुम ने कैसे घट-रूप मे मान लिया, क्योकि प्रयोजनाभाव दोनो में समान ही है । यह है 'शब्द-नय' की सक्षेप मे रूप-रेखा ।

समभिरूढ-नय

"पर्याय-शब्देषु निरुक्ति-भेदेन,
भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः ।"

— प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ७—३६,

पर्यायशब्द-भेदेन,   भिन्नार्थस्याधिरोहणात् ।
नयः समभिरूढः स्यात्, पूर्ववच्चास्य निश्चयः ॥

— श्लोक वार्तिक

"जहाँ शब्द का भेद है, वहाँ अर्थ का भेद अवश्य है। यह कहने वाला 'समभिरूढ-नय' है। 'शब्द-नय' तो अर्थ-भेद वही कहता है, जहाँ लिंग आदि का भेद होता है, परन्तु इस नय की दृष्टि मे तो प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ही होता है।"

: १२ :

समभिरूढ-नय

शब्द-नय की व्याख्या समाप्त होने के पश्चात् अध्यापक ने समभिरूढ-नय की व्याख्या करने के लिए छात्रो को आज्ञा प्रदान की। आज्ञा पाते ही सातो छात्रो ने समभिरूढ-नय की व्याख्या इस प्रकार की—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—

"ज ज सण्ण भासइ, तं तं चिय समभिरोहए जम्हा ।
सण्णतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढो त्ति ॥"—१

अर्थात्—शब्द-नय ने जहाँ एकार्थ वाची घट, कुट, कलश, कुम्भ आदि अनेक शब्द स्वीकार किये हैं, वहाँ समभिरूढ-नय की मान्यता है कि—जो जिस वाच्य का वाचक है, उसका पर्यायवाची वाचक समस्त वाड्मय मे नही मिलेगा। जैसे—'घट' जिस वाच्य का वाचक है, उसके 'कलश, कुम्भ, आदि अन्य पर्यायवाची वाचक नही हो सकते।

१—विशेषावश्यक भाष्य।

भिन्न-भिन्न शब्दो के अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, एक नही। जैसे--'घटनात् घट' इति। विशिष्ट चेष्टावान् वाच्यार्थ को 'घट' कहते है।

"कुट कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुटः"
—यह व्युत्पत्ति 'कुट' शब्द की है।

"उभ-उंभ पूरणे कुम्भनात् कुत्सितपूर्णात् कुम्भ"—यह व्युत्पत्ति कुम्भ शब्द की है। इस प्रकार घट, कुट, और कुम्भ इन तीनो मे शब्द-भेद की तरह अर्थ-भेद भी है। एक अर्थ मे अनेक शब्दो की प्रवृत्ति नही हो सकती।

शब्द-नय को इङ्गित करते हुए समभिरूढ-नय कहता है, कि जब आपने यह मान लिया कि—लिग-भेद, कारक-भेद और वचन-भेद से अर्थ-भेद होता है, तब ध्वनि-भेद होने से---घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो के अर्थ-भेद आपको क्यो अमान्य है ? जब कि ध्वनि-भेद मे यहाँ भी समानता ही है। अत हमारे मार्ग का अनुकरण आप को भी बिना किसी सकोच तथा बिना तर्क-वितर्क के कर लेना चाहिए।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा---"एक-सज्ञा-समभिरोहणात् समभिरूढ,"—१

विरुद्ध लिग आदि योग से जैसे वस्तु मे भिन्नता आ जाती है, वैसे ही सज्ञा-भेद से भी आती है। सज्ञा-भेद तो सकेत कर्ताओ के द्वारा प्रयोजन-वश ही किया जाता है, न

१—सन्मति तर्क टीका।

कि बिना प्रयोजन के, अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आ जाएगा। जिस प्रकार वस्तु के सज्ञा-वाचक शब्द हैं, उसी प्रकार ही उनके अर्थ भी है। अत एक अर्थ के अनेक सज्ञा-वाचक नही हो सकते। शब्द-नय की यह मान्यता है कि—'पर्यायवाचक एक लिगी शब्द भिन्न होते हुए भी एक अर्थ के द्योतक हैं, यथा—'अमरा', 'निर्जरा', 'देवा', आदि का एक देव अर्थ है।

समभिरूढ-नय का अभिमत है कि—'अमरा', 'निर्जरा' और 'देवा', इन तीनो का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं—एक नही।

'न म्रियन्तेऽपर्याप्त-काले ये तेऽमराः', अथवा—'न म्रियन्ते हननादपि ये तेऽमराः'—जिनकी मृत्यु अपर्याप्त काल में नही हो सकती, अथवा जो शस्त्र-अस्त्र आदि से भी नही मरते, अपनी स्थिति पूर्ण होने से पहले जो नही मरते, उन्हे 'अमर' कहते है।

'निर्जरा निर्गता जराया ये ते निर्जराः'—

जो बुढापे के जाल से निकल गए, अथवा जिनके जीवन मे व्यावहारिक दृष्टि से सदैव यौवन बना रहता हो, वे निर्जरा-वाचक के वाच्यार्थ है।

'दीव्यन्तीति देवाः,'—'दिवु' धातु—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, तथा गति, इन अर्थों मे है। अत इन लक्षणो से जो युक्त हैं, वे देव कहलाते हैं।

सारांश यह निकला कि—अमराः, निर्जराः, और देवा;

भिन्न-भिन्न शब्दो के अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, एक नही। जैसे--'घटनात् घट' इति। विशिष्ट चेष्टावान् वाच्यार्थ को 'घट' कहते है।

"कुट कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुटः"
—यह व्युत्पत्ति 'कुट' शब्द की है।

"उभ-उंभ पूरणे कुम्भनात् कुत्सितपूर्णात् कुम्भ"—यह व्युत्पत्ति कुम्भ शब्द की है। इस प्रकार घट, कुट, और कुम्भ इन तीनो मे शब्द-भेद की तरह अर्थ-भेद भी है। एक अर्थ मे अनेक शब्दो की प्रवृत्ति नही हो सकती।

शब्द-नय को इङ्गित करते हुए समभिरूढ-नय कहता है, कि जब आपने यह मान लिया कि—लिंग-भेद, कारक-भेद और वचन-भेद से अर्थ-भेद होता है, तब ध्वनि-भेद होने से—घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो के अर्थ-भेद आपको क्यो अमान्य हैं? जब कि ध्वनि-भेद मे यहाँ भी समानता ही है। अत हमारे मार्ग का अनुकरण आप को भी बिना किसी सकोच तथा विना तर्क-वितर्क के कर लेना चाहिए।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"एक-सज्ञा-समभिरोहणात् समभिरूढ,"—१

विरुद्ध लिंग आदि योग से जैसे वस्तु मे भिन्नता आ जाती है, वैसे ही सज्ञा-भेद से भी आती है। सज्ञा-भेद तो सकेत कर्त्ताओ के द्वारा प्रयोजन-वश ही किया जाता है, न

१—सन्मति तर्क टीका।

कि बिना प्रयोजन के, अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आ जाएगा। जिस प्रकार वस्तु के सज्ञा-वाचक शब्द हैं, उसी प्रकार ही उनके अर्थ भी है। अत. एक अर्थ के अनेक सज्ञा-वाचक नही हो सकते। शब्द-नय की यह मान्यता है कि—'पर्यायवाचक एक लिगी शब्द भिन्न होते हुए भी एक अर्थ के द्योतक है', यथा—'अमरा', 'निर्जरा.', 'देवा.', आदि का एक देव अर्थ है।

समभिरूढ-नय का अभिमत है कि—'अमरा', 'निर्जरा.' और 'देवा.', इन तीनो का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं—एक नही।

'न म्रियन्तेऽपर्याप्त-काले ये तेऽमराः', अथवा—**'न म्रियन्ते हननादपि ये तेऽमराः'**—जिनको मृत्यु अपर्याप्त काल मे नही हो सकती, अथवा जो शस्त्र-अस्त्र आदि से भी नही मरते, अपनी स्थिति पूर्ण होने से पहले जो नही मरते, उन्हे 'अमर' कहते है।

'निर्जरा निर्गता जराया ये ते निर्जराः'—

जो बुढापे के जाल से निकल गए, अथवा जिनके जीवन मे व्यावहारिक दृष्टि से सदैव यौवन बना रहता हो, वे निर्जरा-वाचक के वाच्यार्थ है।

'दीव्यन्तीति देवाः,'—'दिवु' धातु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, तथा गति, इन अर्थों मे है। अत इन लक्षणो से जो युक्त हैं, वे देव कहलाते हैं।

साराश यह निकला कि—अमरा', निर्जरा, और देव

ये तीनो ही भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ के वाचक है, एक अर्थ के नही। क्योकि जहाँ शब्द-भेद है, वहाँ अर्थ-भेद अवश्य है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"पर्याय-शब्देषु निरुक्ति-भेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः"—१

अर्थात्—जो पर्याय वाचक शब्दो मे निरुक्ति-भेद से अर्थ भेद को स्वीकार करता है, वह 'समभिरूढ-नय' है।

शब्द-नय, जब कि शब्द-पर्याय की भिन्नता मे भी द्रव्य के अर्थ मे अभेद मानता है, तब समभिरूढ-नय शब्द-पर्याय मे भेद होने पर भी द्रव्य के अर्थ को भिन्न मानता है। जैसे—"भूपालनात् भूप., नृपालनात् नृप., राजते वैभवादिभि र्य. स राजा", आदि। शब्द-भेद से अर्थ-भेद मानना ही प्रस्तुत-नय का परम लक्ष्य है। यदि शब्द-भेद से अर्थ-भेद नही माना जाए, तो 'इन्द्र' और 'शक्र' दोनो शब्दो का अर्थ एक हो जाएगा।

'इन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति—'इन्दनादिन्द्र'; अर्थात्—जो शोभित हो वह 'इन्द्र' का वाच्य है, एवं 'शकनाच्छक्र:', अर्थात्—जो शक्तिशाली हो, उसे 'शक्र' कहते हैं। इसी प्रकार 'पुर्दारणात् पुरन्दर.'; अर्थात्—जो नगर आदि का ध्वस करता है, वह 'पुरन्दर' कहलाता है। 'वज्र पाणी यस्य स वज्रपाणी,' अर्थात्—जिसके हाथ मे वज्र है, वह 'वज्रपाणी' कहलाता है। जब इन शब्दों की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है, तब इनका वाच्यार्थ भी भिन्न-भिन्न ही होना चाहिए।

१—प्रमाण-नय तत्त्वालोक,

अस्तु, जो इन्द्र है—वह इन्द्र है। जो वज्रपाणि है—वह वज्रपाणी है। जो पुरन्दर है—वह पुरन्दर है, और जो शक्र है—वह शक्र है।

वास्तव मे न तो इन्द्र—शक्र हो सकता है, और न शक्र—पुरन्दर हो सकता है, अर्थात्—कोशकारो ने एक लिंगी इन्द्र के पर्याय-वाचक शब्द दिए है, और शब्द-नय ने उन सब का अर्थ एक माना है। परन्तु समभिरूढ-नय उन सभी पर्याय-वाचक शब्दो के अर्थ भिन्न-भिन्न करता है। बस, यही दोनो मे अन्तर है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"सत्स्वर्थेष्वसक्रम समभिरूढ."—१

अर्थात्—सत् अर्थो मे सक्रम न होना ही 'समभिरूढ-नय' का अर्थ है।

शब्द-नय काल, कारक, और लिंग आदि के भेद से ही अर्थ मे भेद मानता है। एक लिग वाले पर्याय-वाचक शब्दो मे किसी प्रकार का भेद नही मानता। जैसे—'अवगत, ज्ञात, बुद्ध'; इन सब का लिंग एक होने से अर्थ भी एक ही मानता है। शब्द-भेद के आधार पर अर्थ-भेद करने वाली बुद्धि जब कुछ और आगे बढ जाती है, और व्युत्पत्ति के आधार पर पर्याय-वाचक शब्दो मे अर्थ-भेद मानने के लिए तैयार हो जाती है, तब 'समभिरूढ-नय' का अवतरण होता है। व्युत्पत्ति-वाद का विकास समभिरूढ-नय के समर्थको ने

१—तत्त्वार्थ भाष्य।

किया है। यह नय कहता है कि—केवल काल आदि के भेद से अर्थ-भेद मानना ही पर्याप्त नही है, अपितु व्युत्पत्ति-मूलक शब्द-भेद से भी अर्थ-भेद मानना चाहिए।

प्रश्न—वाच्य कितने हैं ? और वाचक कितने ?

उत्तर—वाच्य अनन्तानन्त है, और वाचक केवल सख्यात ही है, असख्यात व अनन्त नही।

विश्व की जितनी भी भाषाएँ हैं, उन सभी के समस्त शब्दो को यदि कल्पना से एकत्र किया जाए, तो भी शब्द-समूह समुद्र की तरह सख्यात की वेला को अतिक्रम नही कर सकता।

प्रश्न—अब यह नया प्रश्न पैदा हो सकता है कि क्या श्रुत-ज्ञान से अनन्त पर्याय जानी जा सकती है ? यदि श्रुत-ज्ञान का विषय अनन्त है, तो फिर सख्यात शब्दो से अनन्त अर्थों का बोध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—श्रुत-ज्ञान दो प्रकार का है—(क) अभिलाप्य, और (ख) अनभिलाप्य। जो 'अभिलाप्य' है, उसका ज्ञान शब्द के द्वारा हो सकता है। तथा जो 'अनभिलाप्य' है, उसका नही। अभिलाप्य से अनभिलाप्य श्रुत-ज्ञान अनन्त गुण है। 'समवायाग' तथा 'नन्दी' सूत्र मे एक पाठ आता है— "दिट्ठिवायस्स सखेज्जा अक्खरा, अणता गमा, अणंता पज्जवा", दृष्टिवाद मे श्रुत-ज्ञान का आमूल-चूल वर्णन आता है, जबकि उसमे भी 'सखेज्जा अक्खरा अणता गमा' बतलाया है, तब अन्य शास्त्र-ग्रन्थ तो उसके आगे नगण्य से हैं।

प्रश्न—अब रहा यह प्रश्न कि—सख्यात अक्षरो से अनन्त अर्थो का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जैसे लोकाकाश असख्यात प्रदेशात्मक है। फिर भी उनमे अनन्त द्रव्य समाए हुए है, वैसे ही सख्यात शब्दो मे भी अनन्त अर्थ समाए हुए हैं। यह बात आगम प्रमाण से प्रमाणित होने से सर्वथा ग्राह्य है।

पंचम छात्र

पाँचवे छात्र ने कहा—"असक्रमगवेषणापरोऽध्यवसाय विशेषः समभिरूढ ।"—१

अर्थात्—जो विचार, शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद की कल्पना करता है, वह 'समभिरूढ-नय' कहलाता है।

'शब्द-नय' यदि लिंग आदि के भेद से अर्थ-भेद को स्वीकार करता है, तो सज्ञा-भेद से भी अर्थ-भेद को स्वीकार क्यो नही करता ? 'समभिरूढ-नय' शब्द-नय से कहता है, यदि तुम ऐसा कहोगे कि—घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो का अनुशासन बल से एक मे सकेत ग्रहण हो जाता है, तो 'ऋजुसूत्र-नय' से ग्रहण किया हुआ सकेत-विशेष पर्यालोचन से क्यो नही छोड देते ?

शब्द-नय कहता है कि—जिस रूप से जिस पदार्थ का बोध होता है, उसी रूप से उसकी पद-शक्ति है। घट-पद की तरह कुट-पद से भी घट रूप अर्थ का बोध होता है। अत सिद्ध हुआ कि घट, कुट और कुम्भ आदि एक घट

१—नय-प्रदीप

रूप अर्थ के बोधक होने से इन्हे पर्यायान्तर कहना युक्ति-सगत ही है।

समभिरूढ़-नय कहता है कि आपका यह कहना युक्ति-युक्त नही है, क्योकि 'घट चेष्टाया' धातु से 'घट' शब्द बना है। 'कुट कौटिल्ये' धातु से 'कुट' शब्द बना है, जबकि दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है, तो वाच्यार्थ भी भिन्न-भिन्न ही होने चाहिएँ—एक नही। जिस प्रकार तन्तुओ से 'पट' बना है, मिट्टी से 'घट' बना है, और दोनों के उत्पन्न होने के उपादान कारण भी भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो की व्युत्पत्ति के प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही है, तथा वाच्यार्थ भी भिन्न हैं। यदि तुम ऐसा कहोगे कि—व्युत्पत्ति-ज्ञान के बिना भी पदार्थ का बोध हो सकता है, तो यह कथन भी युक्ति-सगत नही है, क्योकि अन्य किसी स्थल मे किसी एक शब्द की निष्पत्ति के प्रकार अनेक होने से व्युत्पत्ति-ज्ञान के बिना वाच्यार्थ का बोध कैसे हो सकता है ? उदाहरण के रूप मे लीजिए—

जैसे कि 'कुपति' एक शब्द है, इसकी व्युत्पत्ति है—'कु-पृथ्वी तस्या पति कुपति' अथवा 'कुत्सित पति. कुपति.', अर्थात्—व्युत्पत्ति के अनुसार ही वाच्यार्थ का बोध हो सकता है।

शब्द-नय—ऐसा करने से तो पारिभाषिक शब्द की अनर्थकता सिद्ध न हो जाएगी ?

समभिरूढ-नय—हो जाने दो, हमें इससे क्या चिन्ता ?

क्योकि एक स्थान पर ऐसा कहा भी गया है—"पारिभाषिकी नार्थतत्त्व ब्रवीति ।"

शब्द-नय—यदि अर्थ-बोधकत्व मात्र मे पदत्व भाव पाया जायगा, तो यह इच्छा शब्द-सकेत से भी अभिव्यक्त हो सकती है, तो फिर दोनो मे विषमता ही क्या है ?

समभिरूढ-नय—पदो का स्वभाव है कि व्युत्पत्ति के निमित्त से अर्थ का बोध कराना, एव यह इच्छा शब्द-सकेत से अस्वभाव-भूत धर्म का ग्रहण होता है । यही इन दोनो मे विषमता है ।

शब्द-नय—जिस प्रकार नानार्थक पद मे 'अर्थ' सक्रम हो जाता है, उसी प्रकार अर्थ मे भी पद' सक्रम हो जाना चाहिए , अर्थात्—जैसे एक पद मे अनेक अर्थ समवेत है, वैसे ही एक अर्थ मे अनेक पदो का सक्रम हो जाता है, फिर इसमे क्या हानि है ?

समभिरूढ-नय—'अर्थ' की तरह 'पद' का भी क्रिया के उपराग से सक्रम हो जाता है , अर्थात्—पद मे पद का सक्रम हो जाता है । किन्तु अर्थ का सक्रम नही होता , जैसे—(हरी) यह पद द्विवचनान्त है । 'हरि', 'हरि औ' , यहाँ पद सारूप्येण एक शेष करके 'हरी' ऐसा रूप बना । यहाँ एक पद का दूसरे पद मे सक्रमण हो गया, किन्तु पद-सक्रम से अर्थ-सक्रम नही हुआ ।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—"सम्यक् प्रकारेण पर्याय-शब्देषु निरुक्तिभेदेन अर्थमभिरोहन् समभिरूढ ।"

अर्थात्—जो पर्याय, जिस अर्थ के योग्य हो, उस पर्याय को उसी अर्थ मे अलग-अलग स्वीकार करना तथा शब्द के अर्थ की व्युत्पत्ति मे लक्ष्य रखना—यह समभिरूढ-नय का ध्येय है। जैसे—जिस पदार्थ या वस्तु मे 'घट' शब्द की ध्वनि होती हो, उसे ही 'घट' कहेगा, खाली को नही ।

प्रस्तुत नय एक शब्द से अनेक वस्तुओ को 'वाच्य' नही मानता है, अर्थात्—कहने वाले के शब्द का जो अर्थ और अभिप्राय होता है, उसे तो 'वस्तु' मानता है, और शेष को 'अवस्तु', जैसे—किसी ने कहा—'योगीश्वर ! अश्व दौडता है, इसका निग्रह करो ।' इस वाक्य मे 'अश्व' शब्द के दो अर्थ होते हैं—'घोडा' और 'मन'। परन्तु कहने वाले का तात्पर्य साधु के सम्बन्ध मे 'मन' से है । अत मन तो 'वस्तु' है, और अश्व 'अवस्तु'। इसी प्रकार 'धर्म' शब्द के कहने पर धर्मास्तिकाय, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म की विवक्षा मे समभिरूढ-नय बोलने वाले के शब्द का अभिप्राय लेकर, जो अर्थ प्रसगानुसार अभिमत हो, केवल उसे ही 'धर्म' मानता है, अन्य धर्म को 'धर्म' नही मानता है, अर्थात्—कहने वाले की मनोगत वस्तु को ही 'वस्तु' स्वीकार करना, इस नय का अभीष्ट लक्ष्य है ।

वस्तुत. 'शब्द' तो आधार है, और मानसिक अभिप्राय 'आधेय' है। वहाँ शब्द-नय यह आशका प्रस्तुत करता है, कि—तुम्हारे कथन मे, और हमारे कथन मे क्या अन्तर है ?

इसका उत्तर समभिरूढ देता है कि—'शब्द' का अर्थ तो अन्य वस्तु मे भी प्राप्त होता है। जैसे—'गौ' शब्द का अर्थ 'वृषभ' के अतिरिक्त 'आदित्य,' 'स्वर्ग,' 'जल,' 'रश्मि,' 'दृष्टि,' 'बाण,' तथा 'वज्र , अर्थात्—'गच्छतीति गौ'—गमन क्रिया करने वाले अनेक अर्थों मे घटित हो जाता है। यह तो आपका अभिमत है, किन्तु अभिप्राय-युक्त 'आधार वस्तु' के अर्थ को ही 'वस्तु' मानना हमारा अभिप्रेत है। बस, यही दोनो मे अन्तर है ।

जिस प्रकार शब्द-पर्याय मे भिन्नता होते हुए भी शब्द-नय एक ही अर्थ मानता है, वैसे ही अनेक अर्थो का आधार-रूप एक शब्द भी मानता है, परन्तु समभिरूढ-नय भिन्न-भिन्न पर्याय-वाचक शब्दो का अर्थ भिन्न-भिन्न मानता है, और नानार्थक शब्द का एक समय मे एक ही अर्थ मानता है, उसे ही अभिप्रेत वस्तु मानता है, शेष अर्थो को 'अवस्तु' ।

सप्तम छात्र

सातवे छात्र ने कहा—"वत्थुओ सकमण होइ अवत्थु ण य समभिरूढे ।"—१

अर्थात्—वस्तु का अन्य किसी वस्तु मे सक्रमण होना असभव है ।

'जीव, जीवास्तिकाय, प्राणी, भूत, सत्त्व, विज्ञ, चेता, आत्मा, पुद्गली, कर्त्ता, विकर्त्ता, जन्तु, यौनिक, स्वयभू, सशरीरी, ज्ञाता, तथा अन्तरात्मा' आदि शब्द-नय

१—अनुयोग द्वार सूत्र ।

के मत से ये एक जोव-द्रव्य की सञ्ज्ञाएँ है। किन्तु समभिरूढ-नय पूर्वोक्त शब्दो के अर्थ को व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न करता है, अर्थात्––

प्रस्तुत नय के मत मे विश्व भर के सभी कोशो मे एक शब्द का पर्याय-वाचक दूसरा शब्द नही मिलेगा, अर्थात्–– 'जीव' और 'आत्मा' शब्द मे एकरूपता लाना नितान्त असभव है। जैसे 'आत्मा' शब्द के स्वर और व्यजन 'जीव' शब्द मे सक्रम नही होते, वैसे ही 'जीव' शब्द के स्वर और व्यजन 'आत्मा' शब्द मे सक्रान्त नही होते, तथा जिस अर्थ की सज्ञा 'जीव' है, उसकी सज्ञा 'आत्मा' नही हो सकती। जिस अर्थ की सज्ञा 'आत्मा' है, उसकी सज्ञा 'जीव' नही हो सकती है।

इसी प्रकार 'नन्दी सूत्र' मे या 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता आदि शब्द, 'शब्द-नय' के मतानुसार एक लिगी होने पर एक अर्थ के पर्याय-वाचक शब्द है। परन्तु समभिरूढ-नय, सज्ञा-भेद से पूर्वोक्त शब्दो के अर्थ-भेद मानता है। इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण स्वय विज्ञेय हैं।

जिस प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय, इन पाँचो द्रव्यो का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होते हुए भी गुण और स्वभाव का आदान-प्रदान नही होता, उसी प्रकार 'जीव' के साथ अनादि काल से कार्मण पुद्गल वद्ध होने पर भी

'जीव' का 'अजीव' के रूप मे सक्रमण नही होता, और न कार्मण पुद्गल ही 'जीव' रूप मे सक्रान्त होता है ।

प्रश्न—जब किसी रासायनिक प्रयोग से ताम्र का स्वर्ण, या पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण हो जाता है, तब आपके कथनानुसार क्या 'ताम्र' या 'लोहा' स्वर्ण के रूप मे सक्रान्त नही हुआ ? यदि कहो, नही होता, तो यह प्रत्यक्ष विरोध है। यदि कहो, "सक्रान्त हो जाता है," तो यह आगम विरोध है। एक स्थान पर भी विरोध आ जाए, तो फार्मू ला गलत सावित हो जाने से वह फार्मूला—फार्मू ला नही रहता। यदि दो प्रमाणो से प्रयोग गलत सावित हो जाए, तो कहना ही क्या ? अत इस विरोध का परिहार करिए ?

उत्तर—सक्रमण होने के जो-जो उदाहरण आपने दिए है, वे अन्वय और व्यतिरेक से विपरीत है। 'लोहा' पारस के स्पर्श से 'स्वर्ण' बन जाता है, किन्तु यह तो उसकी पर्याय है। वस्तुत पर्याय तो परिवर्तित होती ही रहती है। पर्याय तो विश्रसा से भी परिवर्तित होती है, तथा प्रयोगज से भी। यदि लोहे का पारस वन जाता, और पारस का लोहा वन जाता, तो इसे हम कथचित् सक्रम कह सकते हैं—सर्वथा नही, किन्तु ऐसा होता नही ।

प्रश्न—दुग्ध मे दधि मिश्रित कर देने से वह दुग्ध दधि के रूप मे सक्रान्त हो जाता है, यह उदाहरण तो अन्वय से व्याप्त है ?

उत्तर—आपका यह कथन भी युक्ति-युक्त नही, क्योकि सजातीय मे सक्रम हो जाना, तो पर्याय है। विजातीय मे सक्रम तीन काल मे भी नही हो सकता। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का परिणमन होना, पुद्गलास्तिकाय की 'गुण पर्याय' है, तथा सस्थानो मे परिणमन होना 'द्रव्य पर्याय' है। जिनके उदाहरण आपने दिए है, वे समस्त पुद्गल 'द्रव्य' के है। एक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान का, दूसरे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान मे परिणत होना तो पर्याय है।

जिस प्रकार पुद्गलास्तिकाय का किसी समय भी धर्मास्तिकाय या जीवास्तिकाय आदि मे सक्रम नही होता, उसी प्रकार एक शब्द का दूसरा सजातीय शब्द न होने से कथचित् भी संक्रम नही हो सकता, और विजातीय शब्द का सक्रम तो होना ही असम्भव है। 'इन्द्र' का 'शक्र' मे सक्रम नहीं हो सकता, 'शक्र' का 'इन्द्र' मे नही हो सकता। अर्थात्—'इन्द्र' कभी भी 'शक्र' नही हो सकता, और न 'शक्र' कभी 'इन्द्र' हो सकता है। यह है 'समभिरूढ-नय' का अभीष्ट मत।

अध्यापक

छात्रो का वक्तव्य सुनकर अध्यापक ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रिय छात्रो! यद्यपि तुम सब ने समभिरूढ-नय के विषय मे बहुत कुछ विवेचन किया है, तथापि प्रसगानुसार अपूर्ण विषय को पूर्ण करने के लिए मुझे भी कहना कुछ आवश्यक है। अत सावधान होकर सुनो—

समभिरूढ-नय व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न पर्याय शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थ होने से पदार्थों को भिन्न-भिन्न मानता है, अर्थात्–जितने भी पर्यायवाची-शब्दो के नाम है, उतने ही वस्तु-भेद और अर्थ-भेद इस नय के मत से माने जाते हैं। क्योकि इस नय का अर्थ केवल अभिधेय ही नही है, अपितु पर्यायवाचक शब्द भी है, फिर भी उन शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थों को स्वीकार करना, इस नय का मुख्य लक्ष्य है।

यदि पर्यायवाची कोश की दृष्टि से एकार्थवाचक कहे जाने वाले 'शब्द' और 'पर्याय' के भेद होने पर भी वस्तु का भेद न माना जाए तो फिर भिन्नार्थवाचक पर्याय-भेद और शब्द-भेद के होने पर भी वस्तुओ का भेद न होना चाहिए। जैसे–'घट' और 'पट' ये दोनो ही पदार्थ भिन्न-भिन्न पर्यायो और भिन्न-भिन्न शब्दो वाले है। यदि अर्थ-भेद न माना जाएगा, तो उक्त दोनो का भेद भी सिद्ध न हो सकेगा। अतएव इस नय के मत मे शब्द-भेद के द्वारा वस्तु के अर्थ-भेद का होना अनिवार्य माना गया है। यह नय किसी वस्तु को अश-मात्र गुण न्यून होने पर भी उसे 'पूर्ण वस्तु' मानता है, जैसे 'जनगण मनोनीत राष्ट्रपति' को भी 'राष्ट्रपति' मानता है।

दूसरा उदाहरण देखिए—एक विद्यार्थी बी० ए०, बी० टी० मे सर्व प्रथम पास हुआ है और शिक्षामन्त्री ने उसे अमुक तारीख को अमुक हाई-स्कूल मे प्रधान अध्यापक पद को सुशोभित करने के लिए निर्देश दिया है। समभिरूढ-नय के अनुसार अभी से ही उसको प्रधान अध्यापक कह सकते हैं। इसी प्रकार जो आन्तरिक युद्ध मे विजयी बनते हुए

अग्रसर होते जा रहे है, क्षयोपशम जन्य समस्त ज्ञान के धारक हैं, और इस ससार-समर मे भी पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले है, उन्हे 'जिन' कह सकते है। 'अवधि' तथा 'मन.' पर्याय ज्ञान होने के पश्चात् इसी भव मे जिन्हे केवल-ज्ञान भी अवश्य प्राप्त कर लेना है, उन्हे 'केवली' कह सकते हैं।

घन-घातिक कर्म दलिको का जिगीषु, तथा केवल-ज्ञान 'लक्ष्मी' के ईप्सु अवश्य ही तीन लोक के पूज्य व विश्ववद्य बन ही जाते है। अत उन्हे 'अर्हन्' कह सकते हैं और अरिहन्त को 'सिद्ध' कह सकते है।

अथवा बारहवें गुण-स्थानवर्ती को 'जिन', 'केवली', 'अर्हन्' कह सकते हैं; क्योकि अन्तर्मुहूर्त मे उन्हे केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेना है। अत. उन्हे पच-परमेष्टी के पहले पद मे सम्मिलित कर सकते है, अर्थात्—उन्हे 'अरिहन्त' कह सकते है।

चौदहवे गुण-स्थानवर्ती अरिहन्त को सिद्ध कह सकते हैं, क्योकि वहाँ का कालमान पूर्ण होने के पश्चात् सिद्ध गति को ही प्राप्त करना शेष रह जाता है, अत' वे सिद्ध भगवन्त ही हैं। यदि कोई चार ज्ञान का धारक है, तो उसे समभिरुढ-नय चार ज्ञान का धारक नही मानता। जिस ज्ञान मे उपयोग लगा हुआ होगा, उसी को धारक मानता है। यह नय 'आगमधर' उसी को मानता है, जिसका उपयोग 'सूत्र' तथा 'अर्थ' मे सलग्न है, और अध्ययन किये जाने वाले विषय को 'आगम' मानता है। उपयोग शून्य अध्ययन और अध्येता को 'आगम' या 'आगमधर' नही मानता। जो साधक जिस सूत्र का उपयोग-पूर्वक एव अर्थ-युक्त अध्ययन

कर रहा है, उसे यह नय उसी सूत्र का ज्ञानी मानता है—अन्य का नही ।

एक व्यक्ति अनेक भाषाएँ जानता है, किन्तु यह नय जिस भाषा मे उपयोग लगा है, वर्तमान मे उसी का ज्ञाता मानता है—अन्य का नही , क्योकि एक समय मे जैसे एक ही भाषा बोली जा सकती है—दो नही । इसी प्रकार उपयोग भी वर्तमान मे केवल एक ही भाषा मे लग सकता है—दो मे नही । इस सम्बन्ध मे प्रकृत-नय का कथन यह भी है कि—शब्द का अर्थ एक समय मे एक व्यक्ति एक ही ग्रहण कर सकता है—अनेक नही । नानार्थक शब्दो मे इसकी मान्यता नही है, जबकि शब्द-नय नानार्थक शब्दो मे भी विश्वास रखता है और उपयोग-शून्य आवश्यक को अवस्तु मानता है । द्रव्यावश्यक तो दुर्लभ-बोधि, अनन्त-ससारी, मायी, और मिथ्यादृष्टि भी करता है, किन्तु उससे कोई परमार्थ नही सधता । अत वह कूटकार्षापण की तरह अवस्तु है । वस्तुत. भावावश्यक ही परमार्थ साधक है, अत. जिज्ञासु को उसी की सत्य-निष्ठ होकर उपासना करनी चाहिए ।

उत्पन्नं दधि-भावेन,
नष्टं दुग्धतया पयः ।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन्,
स्याद्वाद-विद् जनोऽपि कः ॥

— उपाध्याय यशोविजय

"दूध, दधि-रूप से उत्पन्न हुआ है और दूध-रूप से नष्ट हुआ है, किन्तु गोरस-रूप से स्थिर है—यह वस्तु तत्त्व का रहस्य कोई स्याद्वाद-वेत्ता ही जान सकता है, अन्य नही ।"

एवंभूत-नय

क्रिया-परिणतार्थं चेदेवम्भूतो नयो वदेत् ।

— द्रव्यानयोग तर्कणा

"एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यंजनार्थ-विशेषणः ।
राज-चिन्है र्यथाराजा, नान्यदा राज-शब्द-भाक् ॥"

—नयोपदेश, ३९

"जिस काल मे जो क्रिया हो रही है, उस काल मे उस क्रिया से सम्बद्ध विशेषण किंवा विशेष्य नाम का व्यवहार कराने वाला विचार 'एवभूत-नय' कहलाता है ।"

: १३ :

एवंभूत-नय

समभिरूढ-नय का वक्तव्य समाप्त होने के पश्चात् अध्यापक ने छात्रो को 'एवभूत-नय' की व्याख्या करने का निर्देश दिया। जिसके अनुसार सातो छात्रो ने अपने-अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—"शब्दाना स्वप्रवृत्ति-निमित्तभूत-क्रिया-विशिष्टमर्थ वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवभूत इति।"—१

अर्थात्—इन्दनादि क्रिया विशिष्ट इन्द्र आदि व्यक्ति का पिण्ड हो या न हो, परन्तु इन्द्रादि का व्यपदेश लोक मे तथा व्याकरण मे 'रूढ' है, अत समभिरूढ का यह अभिमत है कि—रूढ शब्दो की व्युत्पत्ति शोभा मात्र ही है। "व्युत्पत्ति-रहिता शब्दा रूढा इति वचनात्", किन्तु एवभूत-नय को यह अर्थ अभीष्ट नही है। क्योकि उसका कहना है कि—जिस समय 'इन्दन' आदि क्रिया से विशिष्ट इन्द्र होगा, उस काल

१—नय-प्रदीप

मे ही वह 'इन्द्र' शब्द का वाच्य है, उससे रहित काल मे नही ।

यद्यपि भाष्य आदि व्याकरण-शास्त्र के ग्रन्थो मे जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध और यहच्छा, पाँच प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति कही है, तथापि वे सब व्यवहार मात्र ही है--निश्चय से नही । समभिरूढ-नय व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद तक ही सीमित है, किन्तु एवभूत-नय कहता है कि—जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस 'शब्द' का वह 'अर्थ' मानना चाहिए । जिस शब्द का जो अर्थ होता हो, उसके होने पर ही शब्द का प्रयोग करना, 'एवभूत-नय' है ।' जैसे जो शोभित होता है, वह 'इन्द्र' है । इस व्युत्पत्ति को दृष्टि मे रखते हुए, जिस समय वह इन्द्रासन पर शोभित हो रहा हो, उसी समय उसे 'इन्द्र' कहना चाहिए । शक्ति का प्रयोग करते समय उसे 'शक्र' कहना चाहिए, 'इन्द्र' नही । इन्द्राणी के साथ क्रीडा करते समय उसे 'शचीपति' कहना चाहिए । आगे-पीछे अन्यकाल मे 'शचीपति' का प्रयोग करना इस नय को अभीष्ट नही है ।

वाणिज्य करते हुए को 'वणिक्' कहना, भक्ति करते हुए को 'भक्त' कहना, सेवा करते हुए को 'सेवक' कहना, तप करते हुए को 'तपस्वी' कहना, मनन करते हुए को 'मुनि' कहना, तथा अनुप्रेक्षापूर्वक अध्ययन करते हुए को 'अध्येता' कहना ही इस नय को अभीष्ट है । आगे और

पीछे पूर्वोक्त शब्दो का प्रयोग करना इस नय को मान्य नही है ।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"व्यञ्जनार्थयोरेवभूत ।"—१

अर्थात्—'व्यजन' शब्द और 'अर्थ'अभिधेय , इन दोनो का यथार्थ कथन करने वाले अध्यवसाय को 'एवभूत-नय' कहते है । वस्तुत इस शब्द का वाच्यार्थ यही है और इस अर्थ का प्रतिपादक भी यही शब्द है । इस तरह से वाच्य और वाचक के सम्वन्ध की अपेक्षा रखकर तत्क्रिया विशिष्ट वस्तु के ग्रहण करने को 'एवभूत-नय' कहते है, अथवा वाचक और उसके वाच्य की परस्पर मे अपेक्षा रखकर, ग्रहण करने वाले अध्यवसाय को 'एवभूत-नय' कहते है ।

विशेष रूप से गहराई मे जाने वाली बुद्धि, जव अत तक गहराई मे पहुँच जाती है, तव वह विचार करती है कि--यदि व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद माना जा सकता है, तव तो ऐसा भी मानना चाहिए, कि जव व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा नही ।

इस कल्पना के अनुसार किसी समय राज-चिन्हो से शोभित होने की योग्यता को धारण करना, अथवा मनुष्य रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त कर लेना, इतना मात्र ही 'राजा' या 'नृप' कहलाने के लिए पर्याप्त नही, अपितु राजा

१—तत्त्वार्थ भाष्य

तो उसी समय कहलाने योग्य है, जबकि सचमुच राज-दण्ड को धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो। इसी प्रकार 'नृप' तब कहना चाहिए, जब वह प्रजा का रक्षण कर रहा हो।

अर्थात्—किसी व्यक्ति के लिए 'राजा' या 'नृप' शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा, जबकि उसमे शब्द-व्युत्पत्ति से सिद्ध हुआ अर्थ घटित हो रहा हो। इसी रीति से जब अध्यापक पढा रहा हो, तभो उसे 'अध्यापक' कहा जा सकता है। जब तन्तुवाय वस्त्र बुन रहा हो, तभी उसे 'तन्तुवाय' कह सकते है, अन्यथा नही। इसी प्रकार साधना-परायण व्यक्ति को 'साधक,' अध्ययन परायण व्यक्ति को 'अध्येता' कहा जायगा।

साराश मे यह कथन पर्याप्त है कि जब भी कोई क्रिया हो रही हो, उसी समय उससे सम्बन्धित विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने की मान्यताएँ 'एवभूत-नय' की कहलाती है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"व्यञ्जनार्थविशेषान्वेपणपरोऽध्यवसायविशेष एवभूत." ।—१

अर्थात्—"जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटने पर ही उस वस्तु को उस रूप मे मानता है, अन्यथा नही, वह 'एवभूत-नय है।"

शब्द से कही हुई क्रियादि चेष्टाओ से युक्त वस्तु को ही शब्द का वाच्य मानने वाला 'एवभूत-नय' है।

१—नय रहस्य प्रकरण।

अर्थात्—जो 'शब्द' को अर्थ से और 'अर्थ' को शब्द से विशेषित करता है, वह 'एवभूत-नय' है। जैसे—'घट' शब्द चेष्टा अर्थ वाली 'घट' धातु से बना है। अत इसका अर्थ यह है कि—जो जल-धारण आदि क्रिया की चेष्टा करता है, वह 'घट' है।

इसलिए एवभूत-नय के मत से 'घट' अर्थ तभी 'घट' शब्द का वाच्य होगा, जबकि वह जल-धारण आदि क्रिया करता हो, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जीव को तब ही सिद्ध कहा जा सकता है, जब वह समस्त कर्मो का सर्वथा विलय करके मोक्ष मे विराजमान हो जाए। तात्पर्य यह है कि एवभूत-नय मे उपयोग-सहित क्रिया की प्रधानता है। इस नय के मत से वस्तु तभी पूर्ण होती है, जबकि वह अपने सम्पूर्ण गुणो से युक्त हो।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"यत्क्रिया-विशिष्ट शब्देनोच्यते तामेव क्रिया कुर्वद् एवभूतमुच्यते"।—१

अर्थात्—जिस क्रिया का जो बोधक शब्द है, उसी क्रिया को करते हुए वस्तु को वस्तु मानने वाला 'एवभूत-नय' है। समभिरूढ-नय इन्दनादि क्रिया के होने या न होने पर 'इन्द्र' आदि को इन्द्र आदि शब्दो के वाच्य मान लेता है, क्योकि वे शब्द अपने वाच्यो के लिए रूढ हो चुके है। परन्तु एवभूत-नय इन्द्रादि को इन्द्रादि शब्दो के वाच्य तभी मानता है,

१—नय रहस्य प्रकरण।

तो उसी समय कहलाने योग्य है, जबकि सचमुच राज-दण्ड को धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो। इसी प्रकार 'नृप' तब कहना चाहिए, जब वह प्रजा का रक्षण कर रहा हो।

अर्थात्—किसी व्यक्ति के लिए 'राजा' या 'नृप' शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा, जबकि उसमे शब्द-व्युत्पत्ति से सिद्ध हुआ अर्थ घटित हो रहा हो। इसी रीति से जब अध्यापक पढा रहा हो, तभी उसे 'अध्यापक' कहा जा सकता है। जब तन्तुवाय वस्त्र बुन रहा हो, तभी उसे 'तन्तुवाय' कह सकते है, अन्यथा नही। इसी प्रकार साधना-परायण व्यक्ति को 'साधक,' अध्ययन परायण व्यक्ति को 'अध्येता' कहा जायगा।

साराश मे यह कथन पर्याप्त है कि जब भी कोई क्रिया हो रही हो, उसी समय उससे सम्बन्धित विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने की मान्यताएँ 'एवभूत-नय' की कहलाती है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"व्यञ्जनार्थविशेषान्वेषणपरोऽध्यवसायविशेष एवभूत"।—१

अर्थात्—"जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटने पर ही उस वस्तु को उस रूप मे मानता है, अन्यथा नही, वह 'एवभूत-नय' है।"

शब्द से कही हुई क्रियादि चेष्टाओ से युक्त वस्तु को ही शब्द का वाच्य मानने वाला 'एवभूत-नय' है।

१—नय रहस्य प्रकरण।

पंचम छात्र

पॉचवे छात्र ने कहा—

"वजण अत्थ तदुभय एवभूओ विसेसेइ" ।—१

अर्थात्—जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त किया जाए, उसे व्यजन (शब्द) कहते है । वह व्यजन जिस अभिधेय वस्तु को बतलाता है, उसे अर्थ कहते है । शब्दार्थ के मिलित रूप को तदुभय कहते है । अस्तु, जो शब्द अर्थ को विशेषित करता हो, वह 'एवभूत-नय' है ।

एव = इसी प्रकार, भूत = तुल्य , जैसा ,अर्थात्—जो पदार्थ अपने गुणो से पूर्ण हो, जिस क्रिया के योग्य हो, उसी मे लगा हो—अर्थात् वही क्रिया करता हो, और उसी क्रिया मे उसके परिणाम हो, उसे 'एवभूत-नय' कहते है । जैसे–घडा पानी से भरा हो, घट-घट शब्द कर रहा हो, उसी समय एवभूत-नय उसे 'घडा' कहेगा, न कि घर मे पडे हुए रिक्त घट को । वास्तव मे देखा जाए तो जब विवक्षित भाजन-विशेष पानी से भरा हुआ हो, घट-घट शब्द कर रहा हो, ऐसी चेष्टा करने से ही उस भाजन-विशेष की 'घट' सज्ञा प्रसिद्ध हुई है । जब वह घट वही क्रिया कर रहा हो, जिससे उसकी 'घट' सज्ञा प्रसिद्ध हुई, तभी एवभूत-नय उसे 'घट' मानता है । निश्चेष्ट पडे रहने से उसे 'घट' नही कहा जा सकता । एवभूत-नय अशरीरी आत्मा को ही मुक्तात्मा मानताहै ।

प्रश्न—'जीव, नोजीव, अजीव, तथा नोअजीव—इस प्रकार से इन चारो मे यदि केवल शुद्ध पद का ही

१—अनुयोग द्वार सूत्र ।

जबकि वे इन्दनादि क्रियाओ मे परिणत हो । जैसे—एवभूत-नय 'इन्दन' क्रिया का अनुभव करते समय ही 'इन्द्र' को इन्द्र शब्द का वाच्य मानता है, और 'शक' क्रिया मे परिणत होने पर ही 'शक्' को शक् शब्द का वाच्य स्वीकार करता है, अन्यथा नही । इस सम्बन्ध मे यह कहा भी गया है कि—

"यदेवार्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थं सत् ।
यच्चनार्थक्रियाकारि, तदेव परतोऽप्यसत् ॥"

अर्थात्—जो अर्थ क्रियाकारी है, वही परमार्थ मे सत् है, और जो अर्थ क्रियाकारी नही है, वह असत् । चुम्बक को 'चुम्बक' तभी कहा जा सकता है, जबकि वह लोहे को आकर्षित कर रहा हो । आगमधर को 'आगमधर' तभी मानता है, जबकि उसके योग और उपयोग आगम मे ही सलग्न हो, अन्यथा नही ।

यह नय अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय मानता है । वाचना, पृच्छना, पर्यटना तथा धर्म-कथा को नही । जिस विषय की अनुप्रेक्षा की जा रही हो, उसी को 'आगम' मानता है । जब ज्ञान मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'ज्ञानी' मानता है । जब दर्शन मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'दर्शनी' मानता है । जब चारित्र की आराधना मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'चारित्रवान्' मानता है । तात्पर्य यह है कि समभिरूढ-नय ने वस्तु की जो सज्ञा स्वीकार की है, उसी को एवभूत-नय जिस वस्तु की जैसी सज्ञा है, यदि वह वैसी ही क्रिया करे, तो उसको वस्तु मानता है । क्रिया-रहित सज्ञा को वस्तु नही मानता ।

कतिपय दिगम्बर आचार्यो की यह मान्यता है कि एवभूत-नय के अनुसार सिद्ध भगवन्तो को ही 'जीव' कह सकते है, क्योकि वे भाव प्राणो के धारक है। वे भाव-प्राण ये है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, और अनन्त बल-वीर्य। द्रव्य प्राणो के धारण करने वालो को तो केवल व्यवहार से ही 'जीव' कह सकते है, निश्चय से नही।

यह कथन युक्ति-युक्त नही हो सकता, क्योकि एवभूत-नय की यह मान्यता है कि—जो औदयिक भाव मे स्थित हैं, उन्ही को 'जीव' कह सकते है। जो क्षायिक भाव तथा पारिणामिक भाव मे स्थित है, उन्हे 'जीव' नही कह सकते। इस सम्बन्ध मे कहा भी गया है—"एवभूतस्य जीवप्राय औदयिक भावग्राहकत्वात्।"

प्रश्न—यदि 'जीव' के औदयिक भाव ही एवभूत-नय को अभिप्रेत है, तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मलयगिरि आदि आचार्यो ने भी सिद्धो को 'जीव' कहा है, यह किस भाव से कहा ?

उत्तर—पॉच भावो को ग्रहण करने वाले—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ, इन्ही छह नयो के अभिप्राय से कहा गया है, न कि 'एवभूत-नय' के अभिप्राय मे।

'नो जीव'—इस शब्द के द्वारा दो अर्थो का बोध होता है—एक तो जीव से भिन्न पदार्थ, और दूसरा जीव का अश। क्योकि 'नो' शब्द-सर्व-प्रति षेध मे तथा ईषत् प्रतिषेध मे भी आता है। जब सर्व-प्रतिषेध अर्थ विक्षित हो,

उच्चारण किया जाए, तो नैगम आदि नयो मे से किस नय के द्वारा कौन-से अर्थ का बोध कराया जाता है ?

उत्तर—'जीव' ऐसा उच्चारण करने पर देशग्राही नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ , इन नयो के द्वारा चार गतियो मे से किसी भी गति मे रहने वाले 'जीव' का बोध होता है। क्योकि यह नय 'जीव' शब्द से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक , इन पाँच प्रकार के भावो मे से यथा सम्भव भावो को धारण करने वाला है । अत वह 'जीव' है ।

'जीवतीति जीव ' , अर्थात्—जो प्राणो को धारण करने वाला है, उसे जीव कहते है । जिनका सयोग होने पर यह व्यवहार हो कि 'यह जीवित है' , और जिनका वियोग हो जाने पर यह व्यवहार हो कि 'यह मर गया' , उनको 'प्राण' कहते है । किसी भी गुण-स्थान मे स्थित आत्माएँ किसी न किसी द्रव्य प्राणो से अधिष्ठित है, अत उन्हे जीव कह सकते है ।

उपर्युक्त कथन के अनुसार वे द्रव्य-प्राण ये है—पाँच इन्द्रियाँ, तीन योग, श्वासोच्छ्वास, और आयुर्वल-प्राण । इस सम्बन्ध मे एवभूत-नय की यह मान्यता है कि 'जीव' शब्द का उच्चारण करने पर चतुर्गति रूप ससार मे रहने वाले 'जीव-द्रव्य' का ही बोध होता है, सिद्ध अवस्था प्राप्त करने वाले का बोध नही होता । क्योकि सिद्ध-पर्याय मे उक्त प्राणो का धारण नही होता, अत 'जीव' शब्द से 'ससारी जीव' का ही ग्रहण होता है, मुक्तात्माओ का नही ।

कतिपय दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि एवभूत-नय के अनुसार सिद्ध भगवन्तों को ही 'जीव' कह सकते है, क्योकि वे भाव प्राणो के धारक हैं। वे भाव-प्राण ये है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, और अनन्त बल-वीर्य। द्रव्य प्राणो के धारण करने वालो को तो केवल व्यवहार से ही 'जीव' कह सकते हैं, निश्चय से नही।

यह कथन युक्ति-युक्त नही हो सकता, क्योकि एवभूत-नय की यह मान्यता है कि–जो औदयिक भाव मे स्थित हैं, उन्ही को 'जीव' कह सकते है। जो क्षायिक भाव तथा पारिणामिक भाव मे स्थित है, उन्हे 'जीव' नही कह सकते। इस सम्वन्ध मे कहा भी गया है—"एवभूतस्य जीवप्राय औदयिक भावग्राहकत्वात्।"

प्रश्न—यदि 'जीव' के औदयिक भाव ही एवभूत-नय को अभिप्रेत हैं, तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मलयगिरि आदि आचार्यों ने भी सिद्धो को 'जीव' कहा है, यह किस भाव से कहा?

उत्तर—पाँच भावो को ग्रहण करने वाले—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ, इन्ही छह नयो के अभिप्राय से कहा गया है, न कि 'एवभूत-नय' के अभिप्राय से।

'नो जीव'—इस शब्द के द्वारा दो अर्थो का वोध होता है—एक तो जीव से भिन्न पदार्थ, और दूसरा जीव का अग। क्योकि 'नो' शब्द-सर्व-प्रति पेध मे तथा ईषत् प्रतिपेध मे भी आता है। जव सर्व-प्रतिपेध अर्थ विक्षित हो,

तब 'नो जीव' का अर्थ जीव-द्रव्य से भिन्न कोई भी वस्तु ; ऐसा समझना चाहिए।

जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीव-द्रव्य का अश ग्रहण करना चाहिए। अश भी दो प्रकार के होते है—(क) देश रूप, और (ख) प्रदेश रूप। देश-रूप अश—नैगम से है। और प्रदेश-रूप अश को शब्द-नय पर्यन्त सभी नय स्वीकार करते है। किन्तु समभिरूढ तथा एवभूत, इन दो नयो को 'नो जीव' शब्द का 'ईषत् प्रतिषेध' अर्थ अभीष्ट नही है।

'अजीव'— इस शब्द से पुद्गल आदि अजीव द्रव्य का ही ग्रहण होता है, क्योकि यहाँ पर अकार सर्व-प्रतिषेधवाची है। नञ् रूप प्रतिषेध के दो अर्थ होते हैं—एक 'प्रसज्य' और दूसरा 'पर्युदास'। प्रसज्य पक्ष मे 'नञ्' का अर्थ सर्व प्रतिषेध, और पर्युदास के पक्ष मे 'तद्भिन्न' और 'तत्सदृश' अर्थ होता है।

"पर्युदास सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्"—इस नियम के अनुसार एवभूत के बिना सभी नय 'अजीव' शब्द का 'सर्व प्रतिषेध' अर्थ करते हैं। अत जीव से भिन्न पुद्गल आदि अर्थ ही उन्हें अभिप्रेत है, किन्तु एवभूत-नय को 'अजीव' शब्द का अर्थ सिद्ध भगवन्त और पुद्गल आदि दोनो ही मान्य है। प्रसज्य की अपेक्षा से पुद्गल आदि, तथा पर्युदास की अपेक्षा से सिद्ध भगवन्त समझना चाहिए।

'नो अजीव'—इस शब्द मे दो अर्थो का बोध होता है। जब 'नो अजीव' और 'अ', इन दोनो का अर्थ सर्व-प्रतिषेध होगा, तब 'नो अजीव' का अर्थ भवस्थ जीव-द्रव्य ही

समझना चाहिए, क्योकि—"द्वौ निषेधौ प्रकृत गमयत.," अर्थात्—निषेध का निषेध करने से प्रकृत-स्वरूप का बोध हो जाता है। जब 'नो' का अर्थ ईषत् निषेध, और 'अ' का अर्थ सर्व निपेध होगा, तब 'नो अजीव' का अर्थ जीव-द्रव्य का देश-प्रदेश समझना चाहिए।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—

"एकस्यापि ध्वनेर्वाच्य, सदा तन्नोपपद्यते।
क्रिया-भेदेन भिन्नत्वादेवभूतोऽभिमन्यते ॥"—१

अर्थात्—एक शब्द का जो भी वाच्य है, वही का वही अर्थ सदा नही रहता, प्रत्युत क्रिया-भेद से अर्थ मे भेद हो जाता है, ऐसा एवभूत-नय मानता है।

शब्द के अभिधेय वाच्यार्थ को क्रिया की परिणति के समय मे ही वस्तु मानना, अन्य समय मे नही। ऐसा अभिमत प्रस्तुत नय का है।

एवभूत-नय समभिरूढ-नय को शिक्षा देते हुए कहता है कि—जब आपने सज्ञा-भेद से वस्तु-भेद मान लिया, तो क्रिया-भेद से भी वस्तु-भेद होता है, ऐसा क्यो नही मान लेते ? यदि देखा जाय तो वस्तुत 'क्रिया' ही वस्तु मे भेद डालने वाली है। जब 'वस्तु' क्रिया मे प्रवेश करती है, तभी उसे 'वस्तु' कहा जाता है। जैसे—'घटते चेष्टते वा तदेव घट', अर्थात्—जो वर्तमान काल मे चेष्टा कर रहा है, वह 'घट' है। जो पहले चेष्टा कर चुका या अनागत काल मे चेष्टा

१—सन्मति तर्क टीका।

करेगा, उसे 'घट' नही कहा जा सकता है। यदि उसे भी 'घट' कहा 'जाए, तो सभी वस्तुओ को 'घट' होने का प्रसग आ जाएगा।

एवभूत-नय—'जैसी जिसवस्तु की सज्ञा हो, वह वैसी ही क्रियाक रता हो,वैसे ही अध्यवसाय मे प्रवृत्त भी हो।' ये तीनो अपने गुणो मे पूर्ण होकर उस गुण के अनुसार क्रिया मे प्रवत्त हो, और द्रव्य गुण पर्याय तथा वस्तु-धर्म सवं प्रत्यक्ष होते हो, तभी उसे 'वस्तु' कहेगा। अशमात्र भी गुण न्यून होने पर उसे 'वस्तु' नही मानेगा।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जब ध्यानस्थ होकर भी मानसिक रणागण मे घोर सग्राम कर रहे थे, तब उसे एवभूत-नय 'युद्ध वीर' मानता है, 'शान्तवीर' और 'मुनीश्वर' नही। क्योकि यह नय सर्व-प्रथम मानसिक वृत्तियो को प्रधानता देता है, और वचन एव शरीर को गौणता। मानसिक वृत्तियोके विना केवल वचन और काय निर्वल है। व्यावहारिक दृष्टि से वचन और काय सवल है। निश्चय दृष्टि से मन प्रवल है, क्योकि गुण-स्थानो का आरोहण भावो से होता है, न कि वाणी और काय से। तन्दुल मत्स्य सातवी नरक की स्थिति मन से ही बाँधता है। समनस्क मनुष्य ही छव्वीस वे देव लोक तक की स्थिति वाँध सकते है—अन्य नही।

एवभूत-नय उपयोग-शून्य आगम-पाठी को 'आगमघर' नही मानता, जव तक कि ज्ञान के साथ चारित्र का सम्वन्ध नही होता। वस्तुत ज्ञान का फल भी चारित्र है। अत यह सिद्ध हुआ कि—जो व्यक्ति आगमो का अध्ययन

करके बहुश्रुत बन गया हो, और साथ ही शुद्ध भाव से 'अहासुत्त, अहातच्च अहाकप्प, अहामग्ग' के अनुसार उपयोग सहित चारित्र का पालन करने वाला भी हो, तभी उसे 'आगमधर' मानता है।

सप्तम छात्र

सातवे छात्र ने एवभूत-नय का विवेचन करते हुए कहा कि—

"एव जह सद्दत्थो सतो भूओ तदन्नहाऽभूओ।
तेणेवभूयनओ सद्दत्थ-परो विसेसेण" ॥—१

अर्थात्—जो 'शब्द' जिस 'अर्थ' का वोधक है, और वह वस्तु भी वैसी ही क्रिया कर रही हो, तभी उस वाच्य का वह शब्द वाचक हो सकता है, जैसे 'गच्छतीति गौ' अर्थात्—जो चले उसे 'गौ' कहते है। जब वह खडी हो या बेठी हो, तो उसे 'गौ' नही कहते। इसी प्रकार 'आशुगामित्वाद् अश्व' अर्थात्—जो शीघ्र चले, उसे 'अश्व' कहते हैं। जब रसोई बना रहा हो, तभी उसे 'रसोइया' कह सकते हैं। 'प्रदीप' शब्द से दीपन-क्रिया से उपेत अर्थ ही अभिप्रेत है। दीपन-क्रियाहीन दीप को दीप नही मानता। इस नय मे उपयोग सहित क्रिया की ही मुख्यता है। एवभूत-नय के मत मे एक पर्याय के अभिधेय होने पर भी एक ही पर्याय का वाचक जो शब्द है, वही एक शब्द उस अभिधेय का वाचक है, क्योकि विद्यमान भाव ही निश्चय से आत्मीय कार्य के

१—विशेपावश्यक भाष्य

करने वाला देखा जाता है। अत तद्रूप वही 'वस्तु' है, अन्य नही, तथा शास्त्र मे वस्तु को 'स्वार्य क्रियाकारी' माना गया है। सारांश इतना ही है, कि एवभूत-नय केवल 'स्वार्थ क्रियाकारी' वस्तु को ही 'वस्तु' मानता है, अर्थात्—जो अपने गुण मे पूर्ण हो, वही 'वस्तु' है। यही इस नय का तात्पर्य है। यदि यह पदार्थ कार्य न करता हुआ भी, अर्थात्—'स्वार्थ-क्रिया' न करने पर भी उस वस्तु को 'वस्तुत्वेन' मानता है, तो फिर 'पट' मे भी 'घट' शब्द की वाच्यता क्यो नही स्वीकार की जाती है? उक्त पदार्थ को इच्छा-विषयक क्यो नही किया जाता? इस प्रकार मानने मे उक्त पदार्थ ने क्या अपराध किया क्योकि जिस प्रकार 'स्वार्थ-क्रिया' न करने पर भी 'घट' घटत्व के व्यपदेश का भागी बनता है, उसी प्रकार 'घट-क्रिया' का अभाव वाला पट भी 'घट' हो जाए। इसका कारण यह है कि—स्व-कार्य के अभाव होने से दोनो मे ही समानत्व होने से पक्ष-सम सिद्ध हो जाता है।

निश्चय-नय

छठे गुण-स्थान से आगे बारहवे गुण-स्थान तक के समस्त अप्रमत्त साधको को 'साधु' मानता है। तेरहवे और चौदहवे गुण-स्थान-स्थित जीवो को 'अरिहत' मानता है। गुण-स्थान रहित जीव को 'सिद्ध भगवान्' मानता है।—१

"से नूण भते! चलमाणे चलिए? उदीरिज्जमाणे उदीरिए? वेइज्जमाणे वेइए? पहिज्जमाणे पहीणे? छिज्ज-

१—भगवती शतक १, उद्देश १,

माणे छिन्ने ? भिज्जमाणे भिन्ने ? डज्झमाणे डड्ढे ? मिज्जमाणे मडे ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ? हता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।"

अर्थात्—हे भगवन् ! जो चल रहा हो, वह चला। जो उदीरा जा रहा हो, वह उदीरा गया। जो वेदा जा रहा हो, वह वेदा गया। जो नष्ट हो रहा हो, वह नष्ट हुआ। जो छिद रहा हो, वह छिदा। जो भिद रहा हो, वह भिदा। जो जल रहा हो, वह जला। जो मर रहा हो, वह मरा। जो खिर रहा हो, वह खिरा। इस प्रकार कहा जा सकता है—

हाँ, गौतम ! जो चलता है, वह चला यावत् जो निर्जर रहा है, वह निर्जरा, ऐसा कहना चाहिए।

यह कथन भी 'निश्चय-नय' से समझना चाहिए। 'निश्चय-नय' ऋजुसूत्र से आरम्भ होकर एवभूत मे पूर्णत- विकसित हो जाता है।

प्रस्तुत नय किंचित्मात्र हीन गुण को वस्तु नही मानता। किसी भी द्रव्य मे प्रदेशो की गणना नही करता है। वह अखड द्रव्य को ही 'वस्तु' मानता है।

अध्यापक

अध्यापक ने कहा—यद्यपि तुम सब ने यथाशक्य एव यथासभव एवभूत-नय की व्याख्या बहुत सुन्दर की है, तथापि एवभूत-नय गर्भित प्रतिपाद्य विषय, जोकि अपूर्ण रह गया है, उसी को अभिव्यक्त करने के लिए मुझे कुछ कहना पड रहा है—

एवभूत-नय का विषय अत्यन्त गम्भीर और कठिन है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम प्रबलतर होगा, उतना ही एवभूत-नय का स्वरूप भली भाँति जाना जा सकता है। एवभूत-नय से परखे हुए विचार सिद्धान्त के रूप मे परिणत हो जाते है। जो खडित नही हो सकता, वस्तुत वही वीतराग देव का सिद्धान्त है। आलाप पद्धति मे कहा है—

"सूक्ष्म जिनोदित तत्व, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा-सिद्ध तु तद्ग्राह्य, नान्यथा वादिनो जिना ॥"—१

जिनोक्त तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, जो कि हेतुओ से खडित नही हो सकता, वह तो आज्ञा से ही मान्य है। क्योकि जो रागद्वेष से रहित हैं, वे अन्यथावादी नही हो सकते। विचारो को मलिन करने वाले राग-द्वेष है, उनको जिन्होने सर्वथा क्षीण कर दिए, वे तुरन्त सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाते है। वे सत्यपूत होने से सत्यवादी ही होते हैं—अन्यथावादी नही। अन्यथावादी तो मोहग्रस्त होते है। द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से वस्तु मे सर्व धर्मो की अभेद रूप से स्थिति रहती है। और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से यह अभेद स्थिति उपचार रूप से रहती है। अनेकान्तवाद की सूचना इन दोनो से होती है। जैन-सिद्धान्त 'सम्यग् एकान्त' और 'सम्यग् अनेकान्त', इन दोनो को मानता है। सम्यग् एकान्त, नय का दूसरा नाम है तथा सम्यग् अनेकान्त, प्रमाण का। 'मिथ्या एकान्त' और 'मिथ्या अनेकान्त', ये दो शब्द क्रमश नयाभास और प्रमाणाभास के द्योतक है।

१—आलाप पद्धति।

साख्य-दर्शन केवल द्रव्य को ही तत्त्व मानता है, उसकी पर्याय को नही। परन्तु पर्याय भी अनुभव सिद्ध है, अत वह मत युक्ति-युक्त नही है।

बौद्ध-दर्शन केवल पर्याय को ही तत्त्व मानता है। इसके सिवाय अन्य किसी द्रव्य-विशेष को तत्त्व नही मानता। अत बौद्धो की यह मान्यता भी युक्ति-युक्त नही है। क्योकि स्वर्ण यदि द्रव्य है, तो कुण्डल, कटक आदि उसके पर्याय है। यह अनुभव सिद्ध है।

'अनेकान्त सिद्धान्त को सम्यग् रीति से विचार करने पर यह कहना कठिन हो जाता है, कि जैनो की दृष्टि से अन्य दर्शन बिल्कुल असत्य है।'—१

सम्यक् अनेकान्त समस्त दर्शनो मे कथचित् सत्यता अवश्य स्वीकार करता है। यदि हम अन्य दर्शनो को अपनी दृष्टि से ठीक नही समझेंगे, तो यह भी तो मिथ्या एकान्त हुआ, जिसका जैनागमो मे निषेध किया गया है। अनेकान्त और स्याद्वाद, ये दोनो शब्द सामान्य रीति से एक ही धर्म मे व्यवहृत होते है। मात्र जैन ही नही, परन्तु जैनेतर बुद्धिमान वर्ग भी जैन-दर्शन व जैन सम्प्रदाय को अनेकान्त दर्शन या अनेकान्त धर्म के रूप मे पहचानते है। वस्तुत

१—जहाँ मिथ्यात्त्व का अश है, वहाँ सभी असत्य हैं। किन्तु ऐसा भी सूत्र मे प्रतिपादन किया है कि मिथ्या दृष्टियो के बनाए हुए ग्रन्थ उन्हे सम्यगदृष्टि सम्यक् रूप मे परिणत कर सकता है। और वीतराग की वाणी को मिथ्या दृष्टि मिथ्यात्व रूप मे परिणत कर देता है। सत्य भी असत्य बन जाता है। (नन्दी सूत्र)—लेखक

अनेकान्त एक प्रकार की विचार पद्धति है। वह सब दिशाओ तथा सब ओर से खुला हुआ एक मानस चक्षु है। ज्ञान के, विचार के, और आचरण के किसी भी विषय को वह केवल सकीर्ण दृष्टि से देखने के लिए निषेध करता है, और जितना शक्य हो, उतने ही अधिक दृष्टिकोणो से, अधिक से अधिक पहलुओ से, और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से वह सब कुछ विचारने और आचरण करने का पक्षपात रखता है। उसका यह पक्षपात भी केवल सत्य पर ही आश्रित है।

अनेकान्त के जीवन का अर्थ है--उसके आगे पीछे और भीतर सर्वत्र सत्य का यथार्थ प्रवाह। अनेकान्त केवल कल्पना ही नही है, अपितु वह एक तत्त्व-ज्ञान भी है, और आचरण का विषय होने से यह धर्म भी है। अनेकान्त की सार्थकता इसी मे है, कि वह जैसे दूसरे विषयों को सब ओर से तटस्थ रूप से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अपने स्वरूप और जीवन के विषय मे भी मुक्त मन से ही विचार करने के लिए तैयार रहता है। कल्पना, तत्त्व-ज्ञान और धर्म, ये तीनो मानव-जीवन की ऐसी विशेपताएँ हैं, जो दूसरे किसी के जीवन मे नही मिलती। परन्तु ये तीनो वस्तुएँ एक ही कोटि की या एक तरह के मूल्य वाली नही है। कल्पनाओ की अपेक्षा तत्त्व-ज्ञान का स्थान ऊँचा है। इतना ही नही, परन्तु यह स्थायी और व्यापक भी है। धर्म का स्थान तो तत्त्व-ज्ञान की अपेक्षा बढकर है, क्योकि धर्म तत्त्व-ज्ञान का परिणाम—फलमात्र है। विभिन्न व्यक्तियो मे क्षण-क्षण मे नयी-नयी कल्पनाएँ

नए रूप मे उद्भव होती हैं। ये सभी कल्पनाएँ स्थिर तथा सच्ची नही होती है। अतएव कल्पना करने वाला व्यक्ति भी अनेक बार अपने द्वारा आदृत तथा पुष्ट कल्पनाओ को फैंक देता है, उन्हे बदलता भी रहता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी कल्पनाओ को सत्य की कसोटी पर कसे बिना उनका सेवन तथा पोषण करता रहता है, तो उन कल्पनाओ को न तो दूसरे लोग अपनाते है, और न उन्हे स्वीकार ही करते है, इसे दुर्नय कहते हैं।

इसके विपरीत यदि कोई कल्पना सत्य की कसौटी पर कसे जाने पर ठीक उतरती है और उसमे भ्रान्ति भी नही रहती, तो वह कल्पना चाहे जिस काल, चाहे जिस देश और चाहे जिस जाति मे उत्पन्न हुई हो, फिर भी वह अपनी सत्यता के कारण सर्वत्र स्वीकृत की जाती है, और स्थायी बन जाती है।

ऐसी स्थिर कल्पनाएँ ही तत्त्व-ज्ञान स्वरूप गिनी जाती है और वे ही कही सीमाबद्ध न रहकर सार्वजनिक या बहुजन ग्राह्य सम्पत्ति बन जाती है, इसी को सुनय कहते है। मानवीय परीक्षण शक्ति जिस तत्त्व-ज्ञान को कस करके सत्य रूप से स्वीकार करती है, वही तत्त्व-ज्ञान वाद मे क्रमश. धीमी या तीव्रगति से मानव के आचरण का विषय बनता है, और जो तत्त्व-ज्ञान विवेक पूर्वक आचरण मे आता है, वही मानव वश का सच्चा विकासप्रद धर्म बन जाता है। जैन-धर्म वैज्ञानिक धर्म है, उसमे काल्पनिक विचारो और काल्पनिक आदर्शो के लिए जरा भी स्थान नही है।

सोमिल ब्राह्मण—भगवान् महावीर से प्रश्न करता है कि भगवन् ! क्या आप यात्रा भी करते हैं ?'

भगवान् ने उत्तर दिया–'हाँ, सोमिल ? मै यात्रा करता हू ।' सोमिल ने तुरन्त पूछा—कौन-सी यात्रा ?

सोमिल बाह्य जगत मे विचर रहा था । भगवान् अर्न्तजगत मे विचरण कर रहे थे ।

भगवान् ने उत्तर दिया—'सोमिल ! जो तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान, और आवश्यक आदि योग की साधना मे यतना है—प्रवृत्ति है, वही मेरी यात्रा है ।' कितनी सुन्दर यात्रा है ? इस यात्रा के द्वारा जीवन का कल्याण होना निश्चित है । जेन-धर्म की यात्रा का पथ जीवन के अन्दर मे से है, बाहर से नही । अनन्तानन्त साधक इसी यात्रा के द्वारा मोक्ष मे पहुँचे है, और पहुँचेगे । सयमी साधक के लिए जीवन की प्रत्येक शुद्ध प्रवृत्ति यात्रा है, मोक्ष का मार्ग है । भगवान् का यह कथन एवभूत-नय की दृष्टि से है ।

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन का प्रसार करने वाले 'कालास्यवैश्य पुत्र' नामक अनगार के प्रश्नो का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य स्थविर भगवन्तो ने कहा—"वस्तुत अपने शुद्ध स्वरूप मे रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है । सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वरूप आत्म-तत्त्व की प्राप्ति ही है ।" यह कथन भी एवभूत-नय की दृष्टि से ही समझना चाहिए । क्योंकि प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म होते है । उसके एक धर्म को

देखकर निश्चय कर लेना, और अन्य धर्मों का विचार न करना ही एकान्तवाद है।

आदि के तीन नय—स्व-सिद्धान्त, पर-सिद्धान्त, और उभय-सिद्धान्त, इन तीनो को मानते है। ऋजुसूत्र-नय—स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त, इन दोनो को मानता है, उभय सिद्धात को नही, क्योकि उभय सिद्धात मे जो स्व अश है, वह स्व-सिद्धान्त मे गर्भित है और जो पर अश है, वह पर-सिद्धान्त मे। इस प्रकार उभय सिद्धात जैसी कोई वस्तु नही है।

तीनो शब्द-नय केवल स्वसिद्धान्त को मानते है, पर-सिद्धान्त और उभय सिद्धात को नही।

वस्तु-धर्मो ह्यनेकान्तः,
प्रमाण-नय साधितः ।
अज्ञात्वा दूषणं तस्य;
निज-बुद्धेर्विडम्बनम् ॥

— अनेकान्त व्यवस्था

अर्थात्—'वस्तु अनेक धर्मात्मक है, और वह प्रमाण एव नय से सिद्ध होती है। जो व्यक्ति उसके रहस्य को बिना समझे ही दूषण देता है, यह उसकी बुद्धि की विडम्बना है।'

उपसंहार

जावइया वयण-पहा,
तावइया चेव होन्ति णय-वाया।
जावइया णय-वाया;
तावइया चेव पर-समया॥

— सन्मति तर्क—४७,

'जितने प्रकार के वचन-मार्ग है, उतने ही प्रकार के नय-वाद है। और, जितने प्रकार के नय-वाद है, उतने ही प्रकार के पर-समय अर्थात् मतान्तर हैं।'

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः,
प्रमाण-नय-साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते;
तदेकान्तोऽर्पितात् नयात् ॥

— स्वयंभू-स्तोत्र, १०३,

अनेकान्त भी एकान्त नही है, अर्थात् वह अनेकान्त भी है, और एकान्त भी है। प्रमाण-गोचर अनेकान्त है, और, नय-गोचर एकान्त है।

: १४ :

उपसंहार

"सत्त नया जिणेहिं भणिया, जे सद्दहता सम्मदिट्ठी ।
एगे पुण न सद्दहन्तो, मिच्छा दिट्ठी उ नायव्वा ।।"

अर्थात्—जो समुदित सप्त नयो पर श्रद्धा करता है, वह सम्यक्त्व-सम्पन्न है, और जो एक नय को तो मानता है, शेप छह नयो को नही मानता या छह नयो को मानता है किन्तु एक नय को नही मानता तो वह मिथ्या दृष्टि है ।

प्रश्न—जव प्रत्येक नय मे सम्यक्त्व नही है, तव समुदित हो जाने पर उसमे सम्यक्त्व कैसे हो सकता है ?

जवकि वालु के प्रत्येक करण मे तेल का सर्वथा अभाव है, तव उन कणो के समुदित हो जाने पर भी उन मे तेल का सर्वथा अभाव ही रहेगा । इसका समाधान क्या है ?

उत्तर—दृष्टान्त एक-देशी होता है, सर्व-देशी नही । जैसे एक परमाणु मे कोई सस्थान नही होता है, किन्तु उनके स्कन्ध मे सस्थान का आविर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार अव्यवस्थित रूप से खडे हुए अनेक व्यक्तियो मे

पक्ति का अभाव है, किन्तु यदि वे सब व्यक्ति क्रम-वद्ध खडे हो जाएँ तो तत्काल ही पक्ति का आविर्भाव हो जाता है।

पोदीना, अजवाइन और कपूर—इन तीनो के पृथक्-पृथक् रहने पर उनमे तरलता नही होती है, परन्तु तीनो को एक शीशी मे बन्द कर के यदि धूप मे रख दियाजाए, तो उनका पानी वन जाता है, जिसको अमृत धारा कहते है।

मशीन के समस्त कल-पुर्जे अव्यवस्थित तथा अलग-अलग पडे हो, तो किसी भी कल पुर्जे से तज्जन्य कार्य निष्पन्न नही हो सकता, और बन्द मशीन से भी कार्य निष्पन्न नही हो सकता। हाँ, यदि सभी कल पुर्जे यथास्थान व्यवस्थित हो, और साथ ही क्रियावान् भी हो, तो उस मशीन से तज्जन्य कार्य निष्पन्न हो सकता है। विप की सभी किस्मे पीडोत्पादक और मारक होती है, किन्तु सुवैद्य उनको मिलाकर एक सजीवनी औषधि वना देता है।

जैसे वैडूर्य-मणियाँ नीलत्वादि गुणयुक्त तथा विप घातक तो है, किन्तु वे मणियाँ महामूल्यवान् होते हुए भी यदि अव्यवस्थित पडी हो, तो उन्हे रत्नावली हार नही कहा जाता, किन्तु एक सूत्र मे पिरोने से ही रत्नावली हार कहा जाता है।—१

प्रत्येक नयेपु मिथ्यात्वेऽपि समुदितेपु सम्यक्त्वस्य रत्नावली दृष्टान्तेन समर्थनम्

१—सन्मति तर्क टीका।

इसी विपय को एक अन्य दृष्टान्त के द्वारा समझिए। जैसे बीज शुद्ध हो, खेत भी उपजाऊ हो, मौसम बीज बोने की हो, कृषिक सुनिपुण हो, खाद भी डाली जाय, समय-पर वृष्टि भी होती रहे, वायु भी ठीक हो, सूर्य और चन्द्र का शीतोष्ण योग भी हो, भाग्य भी साथ दे रहा हो, तो इन सभी के योग से हर प्रकार की फसल बहुत अच्छी हो सकती है। यदि इनमे से एक कारण भी कम हो जाय तो कार्य सम्पन्न नही हो सकता।

जैसे समस्त असाधारण कारण मिलकर व्यापारवान् होने से ही कार्य सिद्ध होता है, वैसे ही जो विचार किसी एक नय से ओत-प्रोत है, किन्तु अन्य छह नयो का उसमे निषेध नही है, अर्थात्—कोई भी नय दूसरे नयो से निरपेक्ष नही है, वल्कि सभी नय परस्पर सापेक्ष है, तो सत्य सिद्ध होता है। जो विचार सप्त नयो की परख मे ठीक उतर गया, वह विचार सिद्धान्त के रूप मे परिणत हो जाता है।

> सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते।
> सम्भूय साधु-समय भगवन् ! भजन्ते॥
> "भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
> पादाम्बुज प्रधन-युक्ति-पराजिता द्राक्॥" —१

भगवन् ! जिस प्रकार परस्पर विरोध रखने वाले राजा लोग, चक्रवर्ती के चरण सरोज की नत-मस्तक होकर सेवा करते है और आज्ञा पालन करते हैं, उसी प्रकार ये सातो

१—नय कर्णिका, २२

नय परस्पर विरोध धारण करते हुए भी जब आपके पवित्र शासन की एकीभूत होकर सेवा करते है, तब ये सभी शान्त भाव को धारण कर लेते है। क्योकि आपकी वाणी अनेकान्त का द्योतक "स्यात्" अव्यय पद से अलकृत है, जो परस्पर विरोध को मिटाने वाली है।

अतएव जिस प्रकार विरोध छोड़कर राजागण चक्रवर्ती के चरण कमलो की सेवा करते है, उसी प्रकार सातो नय आपके शासन की सेवा करते है, अर्थात्—सातो नयोका समूह आपका मुख्य सिद्धान्त है जोकि जिज्ञासुओ और साधको के लिये मार्ग-प्रदर्शक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने द्वात्रिंशिका स्तोत्र मे कहा है —

"उदधाविव सर्व-सिन्धव समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय. ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरत्स्विवोदधि ।"

हे नाथ ! जैसे समस्त नदियाँ समुद्र मे आकर मिल जाती हैं, वैसे ही विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन मे आकर मिल जाते है। जैसे भिन्न-भिन्न नदियो मे समुद्र नही दिखाई देता, वैसे ही भिन्न-भिन्न दर्शनो मे आप दिखाई नही देते, अर्थात्—आपके शासन मे सभी दर्शनो का समावेश हो जाता है। परन्तु आपका दर्शन सभी दर्शनो मे समाविष्ट नही हो सकता। यह आपके दर्शन की विशेषता है।

वर्गीकरण

(१) आदि के चार नय द्रव्यार्थिक है, और पीछे के

तीन नय पर्यायार्थिक । यह पक्ष आगम का है ।

(२) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के मत मे व्यवहार नय तक द्रव्यार्थिक है, और पीछे के चार नय पर्यायार्थिक कहलाते है ।

(३) पहला नय दूसरे नय से अधिक विषय वाला है, इसी क्रम से उत्तरवर्ती नय की अपेक्षा पूर्ववर्ती नय अधिक अधिक विषय वाला है ।

(४) पहले चार नय अर्थ-प्रधान है, और शेष तीन नय शब्द प्रधान ।

(५) पहले चार नय चारो निक्षेपो को स्वीकार करते है,शेष तीन नय केवल भाव-निक्षेप को ही स्वीकार करते है । इनकी मान्यता है कि पहले तीन निक्षेप अवस्तु है केवल भाव ही वस्तु है ।

(६) पहले नय से दूसरे नय अधिक विशुद्ध हैं । इसी क्रम से सातो ही नय उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम है ।

(७) नैगम से लेकर व्यवहार-नय पर्यन्त व्यवहार नय है । और ऋजुसूत्र से निश्चय नय का आरम्भ होता है, जो एवभूत तक है, यह मत आचार्य सिद्धसेन का है ।

(८) नैगम से ऋजुसूत्र तक व्यवहार-नय है, शब्द से एवभूत तक निश्चय-नय है, यह मान्यता आगम की है ।

सम्यक् श्रुतस्य मिथ्यात्वं,
मिथ्यादृष्टि-परिग्रहतात् ।
मिथ्याश्रुतस्य सम्यक्त्वं ;
सम्यग् दृष्टिग्रहादतः ॥

— नयामृत तरंगिणी

अर्थात् मिथ्या दृष्टि द्वारा परिगृहीत सम्यक् श्रुत भी मिथ्यात्व मे परिणित हो जाता है, और सम्यग् दृष्टि के के द्वारा परिगृहीत मिथ्या श्रुत भी सम्यक्त्व मे परिणत हो जाता है ।

परिशिष्ट

ग्रन्थ हुआ सम्पूर्ण, किन्तु कुछ
फिर भी कहना बाकी है।
यह परिशिष्ट चूलिका इसमें,
शिष्ट सत्य की झाँकी है॥

दृष्टान्त-त्रयी

१—प्रदेश-दृष्टान्त

(१) **नैगमनय**—यह नय छहो द्रव्यो के प्रदेश मानता है, जैसे—धर्म-प्रदेश, अधर्म-प्रदेश, आकाश-प्रदेश, जीव-प्रदेश, स्कन्ध-प्रदेश और देश-प्रदेश।

(२) **संग्रह नय**—इस नय की मान्यता है कि पाँच के प्रदेश हो सकते है, छह के नही, क्योकि देश-प्रदेश तो स्कन्ध का ही अवयव है। जैसे किसी सेठ के दास ने एक खर खरीदा, तब सेठ ने कहा—दास भी मेरा है और खर भी मेरा। इस न्याय से 'दास' और 'खर' दोनो सेठ के ही हुए। इसी प्रकार स्कन्ध से देश अपना कोई भिन्न अस्तित्व नही रखता, अत. सिद्ध हुआ कि—प्रदेश पाँच के है।

(३) **व्यवहार नय**—यह नय सग्रह-नय से कहता है, कि पाँचो के प्रदेश हैं—ऐसा मत कहो, क्योकि धन, धान्य, सुवर्ण, एव चाँदी —ये चारो द्रव्य पाँचो धनिक मित्रो के है'; इस वाक्य से कई अर्थ ध्वनित होते है। जैसे कि

इन चारो द्रव्यो मे पाँचो का साझा है, या ये चारो द्रव्य अलग-अलग पाँचो के पास हैं। अत यह कहना चाहिए कि प्रदेश पाच प्रकार के होते है, अर्थात्—धर्म के प्रदेश, अधर्म के प्रदेश आदि।

(४) **ऋजुसूत्र नय**—यह नय व्यवहार-नय से कहता है—'ऐसा मत कहो कि प्रदेश पाँच प्रकार के हैं,' क्योकि उक्त कथन से यह भी आशय निकल सकता है कि पाँचो के प्रदेश पाँच-पाँच प्रकार के है। इस तरह कहने से तो पच्चीस प्रदेशो की सभावना हो सकती है। अत यह कहना चाहिए कि प्रदेशो की भजना है। जैसे कि कथचित् धर्म-प्रदेश, कथचित् अधर्म-प्रदेश, कथचित् आकाश-प्रदेश, यावत् कथचित् स्कन्ध-प्रदेश।

(५) **शब्द-नय**—यह नय ऋजुसूत्र से कहता है—'आपके कहने से यह भी सिद्ध हो सकता है कि जो प्रदेश धर्म का है, वह कदाचित् अधर्म का भी हो सकता है। और जो प्रदेश अधर्म का है, वह कभी आकाश का भी हो सकता है। परन्तु ऐसा कहने से अनवस्था दोष उपस्थित हो जाएगा। अत इसके स्थान पर इस प्रकार कहना चाहिए-"धम्मे पएसे"—धर्म-प्रदेश, अर्थात्-'धर्मात्मक प्रदेश।

प्रश्न—यह धर्म-प्रदेश अखण्ड धर्मास्तिकाय से भिन्न है, या अभिन्न?

उत्तर—'से पएसे धम्मे', अर्थात् धर्म सप्रदेश धर्मास्तिकाय एक ही द्रव्य है। धर्म-प्रदेश सकल धर्मास्तिकाय

से भिन्न नही है; अत धर्म-प्रदेश धर्मात्मक ही है।

प्रश्न—जैसे जीव के एक प्रदेश को भी 'जीव' कहते हैं, वैसे ही धर्म के एक प्रदेश को 'धर्म' क्यो नही कहा जाता ?

उत्तर—एक जीवास्तिकाय मे जीव-द्रव्य परस्पर भिन्न तथा अनन्त है। वह प्रदेश समस्त जीवास्तिकाय एक देश होने से जीवात्मक है। ऐसा हम कह सकते है, क्योकि नो-जीव मे 'नो' शब्द देशवाची है, अर्थात्—एक जीव सकल जीवास्तिकाय का एक देश है। जो एक जीवद्रव्यात्मक प्रदेश है, वह अनन्त जीवद्रव्यात्मक समस्त जीवास्तिकाय मे कैसे रह सकता है ? इसी प्रकार नो-स्कन्ध को भी समझ लेना। क्योकि स्कन्ध द्रव्यो के अनन्त होने से एक देशवर्ती को 'नो-स्कन्ध' कहते है।

(६) **समभिरूढ-नय**—यह नय शब्द-नय को सबोधित करते हुए कहता है कि—तुम्हारा कथन भी पूर्ण सत्य नही है। क्योकि 'धर्म-प्रदेश' इस समस्त पद मे दो समासो की सभावना हो सकती है—तत्पुरुष और कर्म-धारय। यदि 'धर्म' शब्द से सप्तम्यन्त पद ग्रहण किया जाय, तो 'धर्म-प्रदेश,' यह वाक्य सप्तमी तत्पुरुष का आरभक बन जाता है। जैसे—'वने हस्तीति वनहस्ती,' इस पद मे भेद-वृत्ति है। अर्थात्—'वन मे' यह पदार्थ भिन्न है, और 'हस्ती' यह पदार्थ भिन्न। जैसे—'वनहस्ती,' पद मे भेद स्पष्टतया मालूम होता है, वैसे ही 'धर्म-प्रदेश' पद मे भी यही अर्थ सिद्ध होता है कि—'धर्म' मे प्रदेश है। यहाँ धर्म 'आधार' है, और प्रदेश 'आधेय'। आधार और आधेय मे

'कुण्डे बदराणि' भेद के समान अनुभव-सिद्ध है। यदि यह कहो कि—अभेद मे भी सप्तमी देखी जाती है। जैसे—'घटे रूप, कण्ठे काल, धर्मे प्रदेश'—घट मे 'रूप,' कण्ठ मे 'कालापन' एव धर्म मे 'प्रदेश'। तब तो यहाँ भेद मे सप्तमी है या अभेद मे ? यह दोषापत्ति उपस्थित हो जाएगी।

यदि कहो कि—धर्म-प्रदेश मे 'कर्म धारय' समास है, तो यह ठीक न होगा। क्योकि कर्मधारय उसे कहते है, जो समानाधिकरण हो। जैसे—नीलच तद् उत्पलम्—'नीलोत्पलम्' यहाँ विशेष्य विशेषण का अधिकरण समास है। अस्तु 'धर्मश्चासौ प्रदेशश्च धर्म-प्रदेश'। यहाँ 'धर्म' और 'प्रदेश'—दोनो प्रथमा है, तो इनमे कौन-सा पद विशेष्य है और कौन-सा विशेषण ? अत. यह 'कर्मधारय समास' भी नही हो सकता। इसलिए इसे 'धर्म-प्रदेश' न कहो, क्योकि ऐसा कहना दोषपूर्ण है।

'धर्मश्च सप्रदेशश्च-इति धर्म-सप्रदेश'। इन दो पदो में समानाधिकरण हो जाने से 'कर्म-धारय' समास बना। इस प्रकार सप्तमी आशका के अभाव से 'तत्पुरुष समास' की निवृत्ति हुई।

प्रश्न—'यह प्रदेश समानाधिकरण होने से सकल अर्थात्—अखण्ड धर्मास्तिकाय से अव्यतिरिक्त—अभिन्न है, या एक देश-वृत्ति है ? जैसे कि जीवास्तिकाय का एक देश-वृत्ति जीव-प्रदेश।

उत्तर—इसके समाधान मे समभिरूढ कहता है कि 'से पएसे धम्मे'—सप्रदेशो धर्म:, अर्थात्—अखण्ड धर्मास्ति-

काय सप्रदेश कहलाता है, एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नही कहते है ।

(७) एवंभूत-नय—यह नय समभिरूढ-नय को इंगित करते हुए कहता है कि—'सप्रदेशो धर्मः', अर्थात्—'धर्मास्तिकाय सप्रदेश' है, यह कथन भी युक्ति-युक्त नही है। यदि तुम धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हो, तो तुम्हे यह भी मानना चाहिए कि ये सभी देश-प्रदेश की कल्पना से रहित है, कृत्स्न और परिपूर्ण है। एक होने से निरवशेष, निरवयव तथा एक है। अत देश-प्रदेश मेरे सिद्धान्त मे तो अवस्तु ही है।

इसके साथ-साथ एवभूत-नय, समभिरूढ-नय से यह भी पूछता है कि—प्रदेश और प्रदेशी मे भेद है या अभेद ? यदि पहला पक्ष स्वीकार करोगे, तो भेद की उपलब्धि नही होती। यदि अभेद कहोगे, तो 'धर्म-प्रदेश'—इन दोनो शब्दो का एक अर्थ होने से इन शब्दो को पर्यायता ही प्राप्त हुई। और दो पर्याय-वाचक शब्दो का एक साथ उच्चारण नही हो सकता, केवल एक शब्द का ही उच्चारण हो सकता है, दूसरे की व्यर्थता तो स्वय सिद्ध है। अत देश-प्रदेश रहित वस्तु को ही 'धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा जीव' कहते है।

२—प्रस्थक दृष्टान्त

'प्रस्थक'—धान्य मापने के एक भाजन-विशेष को कहते है, जो काष्ठमय होता है।

एक बढई कुल्हाड़ी लेकर अटवी की ओर जा रहा था। उसे देखकर किसी ने पूछा कि—श्रीमान् जी, कहाँ जा रहे है ?

उसने उत्तर दिया—मै प्रस्थक लेने जा रहा हूँ।

काष्ठ छेदते समय भी किसी ने उससे पूछा—क्या छेद रहे हो ?

बढई ने उत्तर दिया—मै प्रस्थक छेद रहा हूँ।

इसके बाद प्रश्न-कर्त्ता ने पूछा—यह क्या बना रहे हो ?

बढ़ई उत्तर देता है—मैं प्रस्थक बना रहा हूँ।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर की दृष्टि से बढई ने पहला उत्तर 'अविशुद्ध नैगम' के अनुसार दिया और अन्तिम उत्तर 'विशुद्ध नैगम' से दिया है।

इस सम्बन्ध मे सग्रह-नय यह मानता है कि—जब प्रस्थक को धान्य की राशि पर धान्य मापने के लिए रखा जाए, तभी उसे 'प्रस्थक' कहना चाहिए। परन्तु व्यवहार-नय यह मानता है कि—जब वह 'प्रस्थक' कही घर मे रखा हो या अन्यत्र कही भी, अर्थात्—उससे काम नही लिया जा रहा हो, तब भी लोक-व्यवहार से उसे 'प्रस्थक' ही कहेगे।

अन्त मे ऋजुसूत्र-नय बोलता है कि—प्रस्थक को तो 'प्रस्थक' कहते ही हैं, किन्तु जो धान्य प्रस्थक से मापा गया है, उसे भी 'प्रस्थक' कहते है। जैसे पसेरी को तो 'पसेरी' कहते ही हैं, किन्तु उस पसेरी से तुले हुए धान्य को भी 'पसेरी' कह सकते है, क्योकि तुलाई के लिए वह भी एक माप है। इसी प्रकार विवक्षित भाजन और उससे मापा

हुआ धान्य, दोनो ही 'प्रस्थक' कहलाते है ।

अग्रिम तीन शब्द-नयो की यह सयुक्त मान्यता है–प्रस्थक के स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति 'प्रस्थक' कहलाता है। और जिसका उपयोग 'प्रस्थक' मे लगा हुआ है, वह व्यक्ति उतने समय तक 'प्रस्थक' कहलाता है, क्योकि उपयोग ही जीव का असाधारण लक्षण है । ये तीन नय तो केवल भाव-निक्षेप ही मानते है । अत. इन्हे 'भाव-प्रधान नय' भी कहते है । भाव-प्रधान होने से 'भाव-प्रस्थक' को ही चाहते हैं । भाव-प्रस्थक उपयोग रूप ही होता है, अर्थात्—जिस विषय मे उपयोग परिणत हो रहा है, उससे भिन्न जीव का कोई अस्तित्व नही है । जब उपयोग भाव-प्रस्थक मे लगा हुआ होगा, तभी कर्त्ता 'प्रस्थक' वना सकता है, अन्यथा नही ।

उनका यह भी कहना है कि—'सर्व वस्तु स्वात्मन्येव वर्तते', अर्थात्—समस्त पदार्थ आत्मा मे ही है । जिसका जिस समय और जिस वस्तु मे उपयोग लगा हुआ है, वह उस समय उसी वस्तु के रूप मे माना जाता है, क्योकि अन्य वस्तु का आधार अन्य वस्तु नही हो सकता । साथ ही प्रस्थक निश्चयात्मक मान है, और निश्चय ज्ञान रूप होता है, अत वह ज्ञान जड-रूप काष्ठ के भाजन मे कैसे अनुभूत हो सकता है ? क्योकि 'चेतन' और 'अचेतन'; इन दोनो का अधिकरण समान नही हो सकता । अत प्रस्थक मे उपयुक्त आत्मा भी 'प्रस्थक' ही कहलाता है । इसी प्रकार आगम मे उपयुक्त आत्मा भी 'आगम' कहलाता है, और चारित्र मे उपयुक्त–चारित्रात्मा, ज्ञान मे उपयुक्त—ज्ञानात्मा,

और दर्शन मे उपयुक्त—दर्शनात्मा ।

३—वसति-दृष्टान्त

नैगम-नय के तीन भेद हैं—(क) अविशुद्ध नैगम, (ख) विशुद्धाविशुद्ध नैगम, और (ग) विशुद्ध नैगम । इन तीनो को स्पष्टतया समझने के लिए आगम मे वसति का दृष्टान्त दिया गया है । जैसे—

किसी व्यक्ति ने किसी आगन्तुक मनुष्य से पूछा—आप कहाँ रहते है ?

आगन्तुक ने उत्तर दिया—श्रीमान् 'मै लोक मे रहता हूँ,

प्रश्न—लोक तो वस्तुत तीन ही है—ऊर्ध्व, पाताल तथा तिर्यक् । क्या, आप तीनो मे रहते है ?

उत्तर—मै तिर्यक् लोक मे रहता हूँ ।

प्रश्न—तिरछा लोक तो जम्बूद्वीप से लेकर स्वयभूरमण समुद्र तक असख्यात द्वीप समुद्र रूप है । क्या, आप सब मे रहते है ?

उत्तर—मै जम्बू-द्वीप मे रहता हूँ ।

प्रश्न—जम्बू-द्वीप मे तो दस क्षेत्र हैं, जैसे भरत, ऐरावत हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यक्वर्ष, देवकुरू, उत्तरकुरु, पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह । तो क्या, आप इन दसो क्षेत्रो मे रहते है ?

उत्तर—मै भरत-क्षेत्र मे रहता हूँ ,

प्रश्न—भरत-क्षेत्र भी तो दो विभागो मे विभक्त है, जैसे कि—दक्षिणार्द्ध, और उत्तरार्द्ध । तो क्या, आप दोनो

विभागो मे रहते है ?

उत्तर—मैं दक्षिणार्द्ध मे रहता हूँ।

प्रश्न—दक्षिणार्द्ध भरत मे भी तीन खण्ड है। तो क्या, आप तीनो खण्डो मे रहते है ?

उत्तर—मैं मध्य खण्ड मे रहता हूँ।

प्रश्न—मध्य खण्ड मे भी अनेक ग्राम, नगर, और नगरियाँ है, तो क्या, आप उन सब मे रहते है ?

उत्तर—मै पाटलीपुत्र मे रहता हूँ।

प्रश्न—पाटलीपुत्र नगर मे तो हजारो घर है, तो क्या आप उन सब मे रहते है ?

उत्तर—मैं देवदत्त के घर मे रहता हूँ।

प्रश्न—देवदत्त का घर तीन मजिल का है। तो क्या, आप तीनो मजिलो मे रहते है ?

उत्तर—मैं बीच की मजिल मे रहता हूँ।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर मे सबसे पहला उत्तर 'अविशुद्ध नैगम' से दिया है। अन्तिम उत्तर 'विशुद्ध नैगम' से, और शेष सभी उत्तर 'विशुद्धाविशुद्ध नैगम से समझने चाहिएँ। क्योकि 'पूर्व' की अपेक्षा 'पर' नैगम विशुद्ध है, और 'पर' की अपेक्षा 'पूर्व' नैगम अविशुद्ध है। इसी कारण इसे 'विशुद्धा-विशुद्ध नैगम' कहते है।

सग्रह नयानुयायी का कहना है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी कमरे मे व्यापक रूप से नही रह सकता, अत ऐसा कहना चाहिए कि—मैं अपनी शय्या मे रहता हूँ।

इस पर व्यवहार नयानुसारी कहता है कि इस विषय

मे जो नैगमोक्त है, वह मेरे सम्मत है। जैसे—मकान मालिक जिस कमरे मे रहता हो, व्यवहार से यही कहना पडता है कि—वह अमुक नम्बर वाले कमरे मे रहता है। चाहे वह कार्यवश ग्रामादि मे ही गया हुआ हो, फिर भी पूछने वाले को यही उत्तर दिया जाता है—इस कमरे मे रहता है। पोस्टमैन भी कार्ड, लिफाफा आदि किवाडो के छिद्र से अन्दर डाल देता है, और वाहर से मिलने वाले भी वही पहुँचते हैं। अथवा—

शय्या मे जितने स्थान को शरीर रोकता है, कोई भी व्यक्ति वस्तुत उतने ही स्थान मे रह सकता है। शय्या का शेष स्थान खाली ही पडा रहता है।

इस सम्वन्ध मे ऋजुसूत्र-नय की यह मान्यता है कि—आत्मा जिन आकाश प्रदेशो का अवगाहन कर रहा है, उन्ही प्रदेशो मे वह रह रहा है।

शव्द, समभिरूढ, और एवभूत—इन तीनो को 'शव्द-नय' कहते हैं। इन तीनो का मन्तव्य है कि—समस्त पदार्थ आत्म-भाव मे अवस्थित हैं, और आत्मा अपने मे अवस्थित है, किसी अन्य द्रव्य मे नही।

पञ्च संवर

अत्यन्त-निशित-धारं,
दुरासदं जिन-वरस्य नय-चक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं ;
मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥

—आचार्य अमृतचन्द्र

"जिन भगवान् के नय-चक्र को समझना सरल नही है, क्योंकि वह अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला है। जो अज्ञ-जन विना समझे-बूझे ही इसको धारण करने का दुस्साहस करेगा, वह अपना हित साधने मे सर्वथा असफल रहेगा।"

अहिंसा

(१) नैगम-नय

नैगम-नय की दृष्टि से अहिंसा के निम्नलिखित सात प्रकार हैं—

(क) मोह-जन्य अहिंसा—सजातीय को न मारना, और-आपत्ति काल में उसकी रक्षा करना।

(ख) लोभ-जन्य अहिंसा—लोभ के वशीभूत होकर किसी को न मारना, या किसी की रक्षा करना।

(ग) काम-जन्य अहिंसा—वासना के वशीभूत होकर किसी को न मारना, या उसकी रक्षा करना।

(घ) नीति-जन्य अहिंसा—राज-दण्ड के भय से किसी को न मारना, या किसी की रक्षा करना।

(ङ) क्षमा-जन्य अहिंसा—क्षमा माँगने के पश्चात् अपराधी को न मारना, या उसकी रक्षा करना।

(च) शरणागत-जन्य अहिंसा—शरण में आए हुए की रक्षा करना या शरणागत को न मारना।

(छ) दौर्बल्य-जन्य अहिंसा—प्रत्येक अवस्था मे अपने आप को दुर्बल जानकर सशक्त निरपराधी, या अपराधी को न मारना ।

(२) संग्रह-नय

संग्रह-नय की दृष्टि से अहिंसा के निम्नलिखित दो भाव है—

(क) मैत्री भाव—त्रस जीवो की रक्षा के निमित्त सहानुभूति एव समवेदन प्रकट करना, और आततायियो तथा शिकारियो से किसी सतप्त प्राणी की रक्षा करना ।

(ख) अनुकम्पा भाव—अनाथालय, वृद्धालय, वनिता आश्रम, चिकित्सालय खोलना, तथा—गौशाला, धर्मशाला, पिजरापोल, आदि जन-हिताय एव पशु-पक्षी हिताय सस्थाओ का सुव्यवस्थित सचालन करना। यथाशक्य अपना सुख छोड कर दूसरे दुखी प्राणियो के प्रति सहानुभूति प्रकट करना; तथा—अपना तन-मन-धन अनुकम्पा-भाव से अर्पण करना ही सच्ची अहिंसा है। अहिंसा की यह सक्षिप्त परिभाषा 'सग्रह-नय' की दृष्टि से समझना चाहिए ।

(३) व्यवहार-नय

स्थूल प्राणातिपात का त्याग करना भी अहिंसा है, अर्थात्—चलने-फिरने वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पचेन्द्रिय, इन जीवो को निरपराध मान कर निश्चित सकल्प के द्वारा न मारना ही सच्ची अहिंसा है। इस अहिंसा

का साधक यदि गृहस्थ होता है, तो वह गृहस्थावस्था मे रहते हुए भी विश्व-मैत्री और विश्व-प्रेम को अपनाने का यथाशक्य प्रयास कर सकता है ।

साथ ही उसकी यह मान्यता भी रहती है कि—किसी भी जीव को सताना, दम्भ करना, धोखा देना, चुगली करना, निन्दा करना, गाली देना, किसी का बुरा चाहना, तथा किसी पर कलक चढाना आदि भी हिसा है । दबे हुए कलह को उखाडना, किसी पर अन्याय होते देखकर खुश होना, अथवा शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना भी हिसा है । धूर्तता से किसी को वचन-बद्ध करना, या किसी को बुरी तरह बाँधना भी हिसा है । क्रोधवश किसी को बुरी तरह पीटकर घायल करना या किसी भी जीव का कोई अग-उपाङ्ग काट डालना भी हिसा है ।

किसी मजदूर पर, किसी पशु पर, या किसी कुली पर अधिक भार लादना भी हिसा है । किसी पर कर्ज का अधिक भार लादना भी हिसा है । कन्या-पक्ष पर अधिक दहेज तथा वहु-सख्यक वर-यात्री ले जाने आदि का अधिक भार लादना भी हिसा है । अपने आश्रित मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जो भी हो, उन्हे भूखे-प्यासे रखना, दास-दासियो को समय पर खाने-पीने की सुविधा न देना, और श्रमजीवी को समय पर न्यायोचित पारिश्रमिक न देना भी हिसा है । शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना और आलस्य में पड़े रहना भी हिसा है । वडो की विनय न करना और छोटो से प्रेम न करना भी हिसा है । इन सभी मे यथाशक्ति बचना

सच्ची अहिंसा है।

(४) ऋजुसूत्र-नय

तीन करण और तीन योग से हिंसा का सर्वथा त्याग करने वाले साधक, फिर भले ही वह प्राणी सूक्ष्म हो अथवा बादर, त्रस हो या स्थावर, किसी भी प्राणी-भूत जीव-सत्व की हिंसा न तो स्वय अपने मन-वचन-काय के द्वारा करनी, न दूसरे से ही करवानी, और साथ ही हिंसा करने वाले का समर्थन भी मन-वचन-काय से न करना, ऐसी पवित्र विचार-धारा या ऐसे आदर्श जीवन को ही वास्तविक अहिंसा कहते है।

निषेध-रूप अहिंसा का पालन व्यापक रूप से किया जा सकता है, और विधि-रूप अहिंसा का पालन व्याप्य रूप से। अत अहिंसा महाव्रत के धारक को चाहिए कि—वह उपयोग पूर्वक गमनागमन करे। यतना से किया जाने वाला गमनागमन, सकोचन एव प्रसारण, आसन एव शयन, उत्थान एव निषीदन आदि, क्रिया करने से षट् काय की रक्षा होती है और इनकी रक्षा होने से आत्मा भी पापो से सर्वथा रक्षित हो जाती है।

मन से किसी भी पापकारी, अधर्मकारी, वध, बन्धन, क्लेश-जनक एव भय-जनक तथा क्रूरता एव निर्दयता के दुष्परिणाम प्रदर्शित न करना, अर्थात्—सभी प्रकार के पापो से मन को सर्वथा वश मे करना, और किसी भी पाप मे मन को प्रवृत्त न करना ही सच्ची अहिंसा है।

किसी भी पाप-कर्म मे वाणी को प्रवृत्त न करना ही

वाणी का वास्तविक सयम है, जिसे वचन-गुप्ति भी कहते है। वस्तुत निरवद्य वाणी ही अहिसा से ओत-प्रोत होती है।

१६ प्रकार के उद्गम दोष, १६ प्रकार के उत्पादन दोष, १० प्रकार के एषणा दोष तथा ५ प्रकार के माण्डले के दोष—इन ४७ दोषो से सर्वथा मुक्त होकर और देख-भाल कर प्रकाश-युक्त स्थान मे ही आहार करे। और वह आहार भी शरीर पुष्ट करने के लिए नही, बल्कि सयम यात्रा के लिए, प्राणो की रक्षा के लिए, धर्म-चिन्तन के लिए, सेवा कार्य के लिए, ईर्या-समिति शोधन के लिए, तथा क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए ही आहार करना चाहिए।

पीढ, फलक, शय्या, सथारा, वस्त्र, पात्र, कबल, प्रावरण, रजोहरण, चोलपट्टक, मुख-वस्त्रिका, आदि उपकरण सयम निर्वाह के लिए ही रखना चाहिए। और इन उपकरणो को भी मर्यादा से अधिक ग्रहण न करना चाहिए। इन उपकरणो मे मूर्छा-भाव न रखे, उनकी प्रतिलेखना व प्रमार्जना यतना पूर्वक प्रतिदिन उभय समय करे, अर्थात्—प्रत्येक उपकरण को यतना से ही ग्रहण करे, यतना से ही रखे, और यतना से ही वापिस करे, तभी वास्तविक अहिसा का ठीक रूप मे पालन हो सकता है। इस प्रकार अहिसा महाव्रत की परिभाषा, ऋजुसूत्र-नय की अपेक्षा से है।

(५) शब्द-नय

यह ठीक है कि अहिसा का पूर्णतया पालन केवल विरक्त ही कर सकता है, अन्य नही। और वह भी अप्रमत्त

अवस्था मे ही सम्भव है, क्योकि अप्रमत्त अवस्था ही वास्तविक अहिंसा है। इस सम्बन्ध मे प्रश्न-व्याकरण सूत्र मे अहिंसा के साठ नाम भगवान् ने प्रतिपादन किये है, जिनमे अप्रमत्त भी उसी का अपर नाम है। जहाँ-जहाँ प्रमत्तता है, वहाँ बहुत से सूक्ष्म छिद्र रह जाते है। और जहाँ आश्रव है, वहाँ कर्म-बन्धन चालू रहता है। अत अप्रमत्तता ही वास्तविक अहिंसा है।

(६) समभिरूढ-नय

अप्रमत्त गुण-स्थानो मे तो मोहनीय कर्म का उदय भी रहता है। और जहाँ मोहनीय का उदय है, वहाँ अध्यवसाय विशुद्ध नही होते। अध्यवसाय की विशुद्धि के बिना अहिंसा का पालन विशुद्ध नही होता। अत ऐसा कहना चाहिए कि सच्ची अहिंसा तो वीतराग अवस्था मे ही है, और यथाख्यात चारित्र मे है।

(७) एवंभूत-नय

वीतराग अवस्था मे भी वचन-योग और काय-योग रहता है। और जहाँ योग है, वहाँ ईर्या-पथिक क्रिया अनिवार्य है। अत. ऐसा कहना चाहिए कि—सच्ची अहिंसा अयोगी केवली मे है, अलेशी मे है, और अक्रिय मे है, क्योकि वही अवस्था पूर्णतया अबन्धक है।

सत्य

(१) नैगम-नय

ससार भर मे जितने भी मत-मतान्तर है, उनमें यत् किंचित् सत्य अवश्य है। सत्य के बिना किसी भी मत का आविष्कार नही हो सकता, फिर चाहे वह सत्य सिद्धान्त रूप मे हो, उपदेश रूप मे हो, या इतिहास रूप मे ही क्यो न हो। सत्य बोलने के लिए सभी मत प्रवर्त्तको ने लेखो के द्वारा और भाषणो के द्वारा आज्ञा प्रदान की है। अपने अनुयायी जनो के हितार्थ सत्य की शिक्षाएं दी जाती है और सत्यवादियो के लिए पारितोपिक भी दिये जाते है। सत्य का समर्थन सभी मतानुयायी करते हैं, सभी मत-मतान्तरो के ग्रन्थो मे सत्य की महिमा, सत्य के गीत, सत्य की स्तुति, सत्य की शिक्षाएं, सत्य की आराधना, सत्य की पूजा, और सत्य का सहर्ष समर्थन आदि के लिए पुरजोर आज्ञा प्रदान की गई है।

धार्मिक सघ के अतिरिक्त राजनीति के क्षेत्र मे भी सत्य का स्थान बहुत ऊँचा है। सभी राज्याधिकारियों और कर्मचा-

रियो को सत्य वोलने के लिए विशेष रूप से सतर्क किया जाता है। असत्यवादियो को दण्डित किया जाता है और सत्य वोलने वालो को पदक दिया जाता है।

व्यावसायिक क्षेत्र मे भी सत्य का बहुत सम्मान किया जाता है। सत्य के द्वारा या सत्य की ओट मे झूठ के द्वारा निस्सकोच व्यापार किया जाता है। खालिस झूठ पर रहकर कोई भी व्यापार नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपनी दूकान पर साइनवोर्ड लगाए, जिस पर लिखा हो—"मेरी दूकान पर झूठ वोलकर व्यापार किया जाता है", फिर देखना कितने ग्राहक आएंगे। जव सत्य की ओट मे रहकर झूठ वोलते है, तो उस समय सत्य अपने प्रभाव से झूठ को भी मीठा वना देता है। परन्तु झूठ स्वय तो विषैला ही है, अत विप मे मीठा मिला देने से विष अमृत नही हो सकता। वस्तुत माधुर्य अन्य वस्तु है, और विपत्व उससे भिन्न दूसरी वस्तु। निस्सदेह समन्वयवादी भी इसी नय का सहारा लेकर सर्व-धर्म-सम्मेलन का आयोजन करते है। इस नय के प्रवर्त्तक सर्वप्रिय और प्रतिष्ठित वन जाते है। उनका कहना यह होता है कि—सभी धर्मानुयायी मेरे है, और मैं सब का हूँ। मुझ मे और इन्हो में सत्याश की दृष्टि से कोई भेद नही है।

(२) संग्रह-नय

जो कोई व्यक्ति धन की इच्छा से, किसी को प्रसन्न करने की इच्छा से, मत्र सिद्ध करने की इच्छा से, वरदान

की इच्छा से, सर्वस्व नष्ट होने की आशका से, मारण तथा उच्चाटन के लिए, विद्या-सिद्धि के लिए हिंसाकारी, अनर्थकारी कलहकारी वैर-वर्द्धक सत्य बोलने से या अन्य किसी भी सासारिक उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए जो भी सत्य बोला जाता है, तो वह सत्य किसी को भी ससार से पार करने मे बिलकुल असमर्थ है। उससे आत्मोन्नति और आत्म-विकास नही हो सकता। वास्तव मे ऐसे सत्य का कोई महत्त्व नही है, ऐसे सत्य की आराधना मिथ्या-दृष्टि भी करते है, फिर भी आगमकारो ने उसे परलोक का आराधक नही माना।

यद्यपि वह सत्य भी बोलता है, तदपि वह वचन असत्य ही है, क्योकि मिथ्यात्त्व का अर्थ है—असत्यपन, अर्थात्—जिसकी दृष्टि ही असत्य है, उसकी भाषा मे सच्चाई कहाँ से आए ? उसके मन और कर्म मे भी सत्य कहाँ से आए ? क्योकि जिसका रक्त अत्यन्त विकृत हो रहा हो, उसका स्वास्थ्य कैसे ठीक हो सकता है। मिथ्यात्त्व का उदय होने पर सत्य भी मिथ्यात्त्व रूप मे परिणत हो जाता है। जैसे घने अँधेरे मे लाल, पीली और सफेद रग की वस्तु भी नजर नही आती, वैसे ही मिथ्यात्त्व के उदय भाव मे सत्य उपलब्ध नही हो सकता। -

अत ऐसा कहना युक्ति-सगत होगा कि सम्यक् दृष्टित्व परमार्थ रूप से सत्य है, और सम्यक्दृष्टि ही सम्यग्वादी हो सकता है, मिथ्या-दृष्टि नही। यह कथन सग्रह-नय की दृष्टि से युक्ति-युक्त है।

(३) व्यवहार-नय

जिस व्यक्ति का जीवन राज-नीति और धर्म-नीति से मिश्रित हो, और जिसका गृहस्थ जीवन राज-नीति तथा धर्म-नीति की दृष्टि से आदर्शमय हो, अर्थात्—जो कन्या के लिए, पशु के लिए तथा भूमि के लिए झूठ नही बोलता, किसी की अमानत मे खयानत नही करता, झूठी गवाही नही देता, किसी पर झूठा आरोप नही चढाता, किसी की रहस्यपूर्ण वार्त्ता का भडाफोड नही करता, अपनी स्त्री की गुप्त-वार्ता प्रकाशित नही करता, झूठ बोलने का उपदेश नही देता, खोटा लेख नही लिखता, झूठे दस्तावेज नही बनाता, नशा नही करता, कुसगति मे नही रहता, खेल-तमाशे नही देखता, अश्लील बाते नही करता, गाली नही देता, गप्पे नही हाँकता, विकथा नही करता, असभ्य एव कठोर वचन नही बोलता, निन्दा और चुगली नही करता, मौखर्य वचन भी नही बोलता, अभक्ष्य सेवन नही करता, और जो पहले तोले फिर बोले, वितराग वाणी मे सदा अनुरक्त रहे, नियमित स्वाध्याय करे, भगवान् का स्मरण करे, विवेक की ज्योति को जागृत करे, निरतिचार प्रतिज्ञा पाले, वास्तव मे इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने वाला ही सत्यवादी कहलाता है। यह है व्यवहार-नय की दृष्टि मे सत्य की सक्षप्ति परिभाषा।

(४) ऋजुसूत्र-नय

ऋजुसूत्र-नय की दृष्टि सत्य के निम्नलिखित पाँच

प्रकार हैं—

(क)—जो व्यक्ति गुस्से का निमित्त होने पर भी गुस्सा नही करता, उसी का जीवन सत्य कहलाता है। क्योकि क्रोध के वश झूठ बोला जाता है, चुगली खाई जाती है, कठोर वचन बोला जाता है, कलह हो जाता है। और परस्पर युद्ध छिड जाता है, शान्ति और क्षमा का भग होता है तथा नियम एव उपनियमो मे भी दोष लग जाते हैं, और प्रतिज्ञा भी भग हो जाती है।

(ख)— जो व्यक्ति लोभ का निमित्त होने पर भी लोभ नही करता, वह सत्यवादी हो सकता है, अर्थात्-किसी स्थान-विशेप के लिये झूठ बोला जा सकता है, अन्न-पानी के लिए भी झूठ बोला जाता है। और पट्टा- चौकी के लिए, वस्त्र-पात्र के लिए शिष्य आदि के लिए लाभ और सत्कार के लिए, प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए, अथवा अन्य किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए भी झूठ बोला जा सकता है। अत. सत्यवादी को हर समय सतोपी बनना अनिवार्य है।

(ग)—जो व्यक्ति जितना निर्भीक होगा, उतना ही वह सत्यवादी बन सकता है। क्योकि भय से भी झूठ बोला जाता है, भयभीत व्यक्ति ही भूतो से पकडा जाता है, वह स्वय डरता है और दूसरो को भी डराता है। भय से तप, सयम, भक्ति और उपासना आदि सब कुछ छूट जाता है, भयभीत व्यक्ति सत्पुरुषो का अनुसरण भी नही कर सकता। अत. सत्य की आराधना के लिए निर्भीक होना नितान्त आवश्यक है,

क्योकि निर्भीक व्यक्ति ही व्याधि, रोग, जरा, मृत्यु आदि से भय नही करता।

(घ)—जो व्यक्ति किसी की हँसी-मजाक नही करता, वह सत्यवादी बन सकता है। दूसरो की हँसी करने से अवहेलना और अपमान होता है, आपस मे लडाई भी हो जाती है। यहाँ पर यह लोकोक्ति अक्षरश चारितार्थ हो जाती है 'रोग का मूल खाँसी, और लडाई का मूल हाँसी।" जब तक शब्द मे झूठ की पुट न दी जाए, तब तक मजाक की भूमिका नही बनती, अत हँसी-मजाक मे झूठ बोला ही जाता है। प्राय सत्यवादी के लिए हँसी-मखोल वाले मनोरजन का परित्याग करना आवश्यक है।

(ङ)—जो व्यक्ति, प्रत्येक विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर बोलता है, वह सत्यवादी बन सकता है। जब भी बोले तब अच्छी तरह सोच-समझ कर बोले, और साथ ही शीघ्रता, चपलता, कटुता आदि दोषो से मुक्त होकर बोले। "सत्यपूत शास्त्रपूतच वदेद् वाक्यम्," अर्थात्—जिससे सत्य का शील का, और विनय का हनन हो, वैसा वचन कभी न बोले। और जो हाथ, पाँव, नयन तथा मुख, इन कर्मेन्द्रियो को वश मे कर लेगा, वह सत्यवादी बन सकता है।

उपर्युक्त समस्त उपायो को जो अपना लेता है, अर्थात्—जिससे सत्य की पुष्टि हो, उसमे प्रवृत्ति करना, और जिससे सत्य की हानि हो, उससे निवृत्ति करना ही सत्यवादिता है। सत्य की यह परिभाषा ऋजुसूत्र-नय की है। यदि कोई

व्यक्ति सत्य की परिभाषा ऊपर कथित तरीको से करता है, तो वह ऋजुसूत्र-नय की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

(५) शब्द नय

इस नय के मतानुसार आगम मे चार प्रकार का सत्य बतलाया है, जैसे—(क) नाम-सत्य, (ख) स्थापना-सत्य, (ग) द्रव्य-सत्य, और (घ) भाव-सत्य।

इनमे शब्द-नय को केवल 'भाव-सत्य-ही अभीष्ट है। नाम-सत्य, स्थापना-सत्य, द्रव्य-सत्य ये तीन प्रकार के सत्य सर्वथा अस्वीकृत हैं।

भाव-सत्य की मान्यता भी केवल अप्रमत्त तथा कल्पातीत अवस्था मे ही है। प्रमत्त अवस्था मे तो वह भाव-सत्य भी दोष-पूर्ण है, सातिचार है और अशुद्ध है।

अप्रमत्त अवस्था मे भी भाव-सत्य वर्द्धमान परिणाम और अवस्थित परिणाम मे पाया जाता है। हायमान परिणाम मे वही भाव-सत्य निर्दोष नही है। सत्य के विषय मे ऐसा निरूपण शब्द-नय की दृष्टि से समझना चाहिए।

(६) समभिरूढ-नय

जहाँ तक साम्परायिक क्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक परिणाम चाहे वर्द्धमान हो, और चाहे अवस्थित हो, भाव-सत्य सदोष है। क्योंकि जहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय सूक्ष्म रूप से भी चालू है, वहाँ तक सत्य पूर्ण विकसित एव निर्दोष नही हो सकता। अत ऐसा कहना चाहिए कि—जो भाव-सत्य वीतरागता मे पूर्णत. विकसित होता है और

जो मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियो से सर्वथा रहित भी हो, वही सत्य निर्दोष हो सकता है। इस प्रकार सत्य की सक्षिप्त परिभाषा समभिरूढ-नय की दृष्टि के समझनी चाहिए।

(७) एवंभूत-नय

वीतरागता तो ग्यारहवे और बारहवे गुरण-स्थान मे भी होती है, परन्तु वहाँ पर भी एकान्त सत्य-योग नही होता। उन गुरण स्थानो मे भी ये चार योग पाए जाते हैं—असत्य मन-योग, मिश्र मन-योग, असत्य वचन-योग; और मिश्र वचन योग। अत सत्य की परिभाषा इस प्रकार करनी चाहिए—

घातिया कर्मो के सर्वथा क्षीरण हो जाने से ही सत्य का सर्वाङ्गीरण विकास होता है। सर्वाङ्गीरण विकास का अर्थ है–जिसके आगे और कोई दूसरा विकास न हो–"यत्सत्यान्नापर सत्यम्", अर्थात्—कुछ न्यून सत्य को भी एवभूत-नय सत्य नही मानता, केवल पूर्ण एव अखण्ड सत्य को ही सत्य मानता है। और वह अखण्ड सत्य तो केवल ज्ञान के साथ ही प्रकट होता है। सर्व प्रथम—"त सच्च खु भगव"—यह पाठ तभी चरितार्थ होता है, जब कि वह आत्मा अखण्ड सत्यमय हो जाता है। बस, वही अवस्था भगवत्पदवी की है, यह कथन एवभूत-नय की दृष्टि से अभिप्रेत है।

अस्तेय

(१) नैगम-नय

जिसका जीवन नैतिकता और व्यावहारिकता से ओत-प्रोत हो, जिसकी कीर्त्ति एव प्रतिष्ठा विश्व भर मे वहुत बढी-चढी हो, जो अनेक सस्थाओ का स्तम्भ एव सरक्षक भी हो, जो राष्ट्र-सेवा, देश-सेवा, समाज-सेवा, ग्राम-सुधार तथा नगर-सुधार आदि का महान् उत्तरदायित्व भी अपने कन्धो पर लिए हो, जो अपना तन, मन और धन राष्ट्र-सेवा मे वलिदान करता हो, जो वीर अपनी मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता, सुदृढता और समृद्धि के लिए निरन्तर कटिबद्ध हो, और अपनी कमाई मे से यथाशक्य जन-हिताय दान भी करता हो, इत्यादि शुभ लक्षणो से जाना जाता है कि—वह अचौर्य व्रत का पालक है। फिर चाहे वह मिथ्या-दृष्टि भी क्यो न हो, किन्तु नैगम-नय की दृष्टि से तो वह अचौर्यव्रत पालक ही है। क्योकि जो मनुष्य तथा कथित गुणो से सम्पन्न है, वह कभी भी चोरी नही करता। इसी लिए वह अचौर्य-व्रत प्रतिपालक कहलाता है। फिर चाहे वह गृहस्थ ही

क्यो न हो, किन्तु अचौर्य के विषय मे इस प्रकार की परि-भाषा प्रस्तुत करना, यह नैगम-नय का दृष्टिकोण है ।

(२) संग्रह-नय

जो व्यक्ति राज-दण्ड के भय से, जाति-बिरादरी के भय से, किसी बलवान् आदमी के द्वारा प्राणो की हानि के भय से, अथवा अपने परिवार की बेइज्जती के भय से चोरी नही करता, और पराई वस्तु का हरण भी नही करता, उसे अचौर्य-व्रत प्रतिपालक नही कहा जा सकता है । फिर चाहे वह महात्मा या सन्यासी ही क्यो न हो, जब तक उसके मन और मस्तिष्क मे मिथ्यात्त्व प्रकृति का प्रभाव है, तब तक वह अचौर्य-व्रत का प्रतिपालक नही हो सकता । इस व्रत की आराधना केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, अर्थात्—जिसकी दृष्टि सम्यक् हो, सत्य हो, और जो चोरी को पाप समझ कर स्वय छोड देता है । और इस कार्य मे किसी प्रकार के भय से, या प्रलोभन से प्रभावित नही होता, वही अचौर्य-व्रत का धारक हो सकता है ।

परन्तु जिसकी दृष्टि केवल बाह्य जगत मे उलझी हुई हो, वह चाहे कितना ही पडित हो और कितना ही ज्ञानी भी क्यो न हो—वह मिथ्या-दृष्टि कहलाता है । वस्तुत मिथ्यात्त्व अविवेकता एव अविद्या का 'अपर नाम' है । अवि-वेकिता मे आत्मा के विशिष्ट गुण प्रकट नही हो सकते क्योकि अचौर्य आत्मा का विशिष्ट गुण है और विशिष्ट गुण ही आत्मा की उन्नति तथा सर्वतोमुखी विकास मे परम सहायक

हो सकता है। आत्मा के जो सामान्य गुण है, उनका मिथ्यात्त्व के उदय मे भी ह्रास और विकास होता ही रहता है। यह अनादि नियम है। अत. पर वस्तु के हरण को पाप समझ कर परित्याग करना ही अचौर्य है। अचौर्य के विषय मे इस प्रकार की व्याख्या सग्रह-नय की दृष्टि से समझनी चाहिए।

(३) व्यवहार-नय

दृष्टि सम्यक् होते हुए भी यदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है, तो पाप को पाप समझते हुए भी अचौर्य-व्रत का आराधक नही हो सकता, क्योकि दृष्टि ठीक होते हुए भी प्रकाश के बिना अन्धेरे मे भटकना ही पडता है। अत दृष्टि ठीक होते हुए भी जिस प्रकार प्रकाश की अत्यावश्यकता रहती है, उसी प्रकार दृष्टि सम्यक् होते हुए भी यदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय होता है, की तो वह कषाय चतुष्क, स्वच्छ गगन-युक्त अमावस्या रात्रि के तुल्य समझना चाहिए। अत स्पष्ट शब्दो मे यह कहना चाहिए कि—अरिहत भगवान् ने गृहस्थो के लिए जिस मोटी चोरी का त्याग वतलाया है, उसका त्याग कम से कम दो करण और तीन योग से होना चाहिए, अर्थात्—ऐसी मोटी चोरी न तो स्वय अपने ही मन, वचन और काय से करे, और न दूसरो के मन, वचन और काय से कराए जैसे—किसी के घर मे या दूकान मे सेन्ध न लगाना, किसी की गाँठ न कतरना, किसी को धूर्तता से न ठगना,

मार्ग मे आते-जाते किसी मुसाफिर को न लूटना, पडी हुई वस्तु न उठाना, चुराई हुई वस्तु न लेना, चोर आदि को सुविधा पूर्ण सहयोग न देना, और जो राज्य-विधान प्रजा के लिए हितकर है उसका भग न करना, जैसे—चुँगी-कर न देना, इनकम टैक्स तथा बिक्री टैक्स न देना, ब्लैक मार्कीट करना, रिश्वत खाना, जूआ खेलना, बिना लाईसेन्स के हथियार रखना, सिगरेट-बीडी पीना, शराब पीना, पर-स्त्री गमन, आदि दुर्व्यसनो मे लिप्त रहना। राज्य-विधान को भग करना भी एक प्रकार की चोरी है। अत राज्य विरोधी आचरण न करना, न्यूनाधिक न तोलना और न न्यूनाधिक मापना ही चाहिए। असली वस्तु मे नकली वस्तु मिलाकर लोगो की आँखो मे धूल डालना भी चोरी है, अत यह वर्जित होना चाहिए। किसी पर अकारण आक्रमण भी न करना चाहिए। जिस प्रान्त मे जो पुस्तके जप्त हो चुकी हैं, उसी प्रान्त मे उन पुस्तको को रखना और उन्हे पढना भी चोरी है। क्योकि वे किताबे छिपाकर ही रखी जाती है और छिपकर ही पढी जाती है, मन मे सदैव खटका ही बना रहता है। गाय, भैंस, बकरी आदि का स्वार्थ वश अधिक दूध दोहना भी चोरी है, क्योकि स्वार्थपरता के कारण दोहन किया अधिक दूध पशु के बच्चे का ही न्यायोचित भाग है। अत. इस प्रकार की स्वार्थ पूर्ति न केवल चोरी ही है, बल्कि पशु के बच्चे को भूखा मारने की दुस्साहसिक अनैतिकता भी है। और यह अनैतिकता अहिंसावादियो के लिए, गौ-रक्षको के लिए तथा जीव-रक्षा-व्रत पालको के

के लिए एक प्रकार की चारित्र सम्बन्धी शिथिलता है। आश्रयदाता की सम्पत्ति का हरण करना भी चोरी है।

सत्सग मे जाने से और जिन-वाणी के सुनने से जी चुराना भी चोरी है। अवकाश होते हुए भी सामायिक का नित्य-नियम न करना भी चोरी है। किसी स्कूल मे, कॉलिज मे, मीटिंग में, कार्यालय मे अथवा व्याख्यान मे विलम्ब से पहुँचना और समय समाप्त होने से पहले उठकर चले जाना भी चोरी है। धर्मार्थ द्रव्य को अपने ही किसी काम मे व्यय करना भी चोरी है। बिरादरी के हितार्थ बनाए गए नियमो को तोडना भी चोरी है। खोटा सिक्का दान-पात्र मे डालना भी चोरी है। किसी नि सतान रिश्तेदार की सम्पत्ति को हस्तगत करने की चेष्टा भी चोरी है। परिश्रम थोडा करना और पारिश्रमिक अधिक लेना भी चोरी है। श्रम-जीवी से श्रम तो अधिक लेना और पारिश्रमिक बहुत कम देना भी चोरी है।

इस प्रकार की मोटी चोरियो का परि त्याग और सूक्ष्म चोरियो का विवेक रखने से ही अचौर्य व्रत की सच्ची आराधना हो सकती है। इस व्रत के आराधक पचम गुण-स्थान वाले 'देश-व्रती श्रमणोपासक' होते है, अर्थात्—जिसका जीवन गृहस्थ अवस्था मे राज-नीति और धर्म-नीति की दृष्टि से आदर्शमय हो, उसे जैन-परिभाषा मे 'श्रमणोपासक' कहते हैं। जहाँ तक व्यवहार-नय का विषय है, वहाँ तक तो गृहस्थ अचौर्य-व्रत की आराधना ही करना है। वस्तुत व्यवहार-नय राज-नीति और धर्म-नीति, दोनो से मिश्रित है।

अस्तु, यह नय देश-व्रत का ही अनुसरण करता है।

ऋजुसूत्र-नय

बिना दी हुई जो भी वस्तु है या जिस वस्तु को ग्रहण करने की आज्ञा नही ली गई, उसे ग्रहण करना भी चोरी है। उसे तीन करण और तीन योग से ग्रहण न करना ही अचौर्य महाव्रत है। इस नय की पूर्ण दृष्टि छठे गुण-स्थान पर पडती है, अर्थात्—छठे गुण-स्थान मे जितने भी अचौर्य महाव्रत के आराधक है, वे सब इसी नय की परिधि मे है।

इस नय का मुख्य विषय अचौर्य महाव्रत है, अर्थात्—साधक चाहे किसी ग्राम मे हो, नगर मे हो, या अटवी मे हो; और कोई वस्तु थोडा हो या वहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, सजीव हो या निर्जीव, बिना दी हुई कोई भी और कैसी भी वस्तु क्यो न हो, उसे न तो स्वय ही ग्रहण करना, न दूसरे से ग्रहण करवाना, और न ग्रहण करते हुए की अनुमोदना (समर्थन) मन-वचन-काय से करना, इस प्रतिज्ञा को जीवन पर्यन्त ग्रहण करना और तदनुरूप उसका पालन करना ही अचौर्य महाव्रत पालन की सार्थकता है।

जिस वस्तु का कोई स्वामी नही है अथवा कोई भूल गया हो, ऐसी वस्तु किसी भी कारण से चारित्रवान् ग्रहण न करे। कङ्कड और कनक (स्वर्ण) को एक-सा जानकर निष्परिग्रही वने। दाँत शोधन मात्र तिनके को भी बिना आज्ञा लिए न उठाए। अचौर्य महाव्रती साधक के लिए अरिहंत भगवान् ने प्रतिपादन किया है कि—'सयमी साधु सर्वकाल मे अप्रतीतकारी घर मे प्रवेश न करे, अप्रतीतकारी

आहार-पानी ग्रहण न करे, एव अप्रतीतकारी पाट-पाटला, मकान, घास-फूस, वस्त्र-पात्र, कम्वल, रजोहरण, चोल-पट्टा, मुखवस्त्रिका अथवा अन्य किसी प्रकार की उपलब्धि जिसके लेने से लोक मे निन्दा हो, यदि ऐसी वस्तु कोई देने लगे, तो वह वस्तु भी कदापि नही लेनी चाहिए। सुकृत करते हुए को अन्तराय न डाले और दान देते हुए को न हटाए। यदि कभी किसी वस्तु का बँटवारा करना पडे, तो निष्पक्ष एव निस्वार्थ बँटवारा करे। आवश्यकता से अधिक कोई भी वस्तु न रखे, परिमाण से अधिक भोजन न करे, जब सव लोग आराम कर रहे हो, तव जोर-जोर से न पढे और न जोर-जोर से बोले भी। जिस दरवाजे पर 'प्रवेश-निषेध' का साइनबोर्ड लगा हो, वहाँ बिना आज्ञा लिए प्रवेश न करे। दूसरो के किये हुए श्रेष्ठ कार्य को कभी न छिपाए।

द्रव्य, क्षेत्र और काल के अनुकूल होने पर भी तप न करना चोरी है। एक वस्तु मे दो व्यक्तियो का साझा है और उनमे से एक नही देना चाहता, तो वह वस्तु लेना भी चोरी है। किसी की वस्तु देखकर या सुनकर उसे प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करना भी चोरी है। जिस वस्तु मे सब का साझा है, उसमे मे कोई हिस्सेदार अगर अपने हिस्से से अधिक लेता है, तो वह भी चोरी है। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी को वहकाकर अपना वनाना भी एक प्रकार की चोरी है।

किसी क्षेत्र मे या परिषद् मे व्याख्यान का समय नियत

किया गया है, उससे अधिक समय लेना भी चोरी है। आज्ञा लिए बिना किसी वस्तु को परोक्ष रूप मे देख लेना भी चोरी है। सयम के मार्ग मे उद्यम न करके आलस्य और प्रमाद प्रकट करना, बार-बार विषयो का सेवन करना, तप मे अरुचि प्रकट करना, और स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करना भी चोरी है। दीक्षित साधु को सयम के पथ से भ्रष्ट करना भी चोरी है।

कृतघ्नता भी एक प्रकार की चोरी है! जादू-टोना और धागा-तावीज बनाना भी चोरी है। किसी खेल-तमाशे को या किसी काम-वर्द्धक वातावरण को छिपकर देखना भी चोरी है। किसी की कविता मे या किसी के निबन्ध मे अपना नाम जोडना भी चोरी है। अपने पास आवश्यकता से अधिक उपकरण होते हुए दूसरे को अत्यन्त आवश्यकता होने पर न देना भी चोरी है। दान देते हुए को अन्तराय देना भी चोरी है। जितनी भूमि की आज्ञा ली है, उससे अधिक अपने काम मे लेना भी चोरी है। चतुर्विध श्री सघ की समृद्धि के लिए बनाए गए विधान को तोडना भी चोरी है। आचार्य, गुरू या रत्नाधिक की विना आज्ञा से किसी पदार्थ को प्राप्त करना, और उसे विना दिखाए सेवन कर लेना भी चोरी है। रसोईघर मे रसोईया प्राय क्यारियाँ बनाकर मर्यादा बनाता है, उस मर्यादा का उल्लघन करके अन्दर जाना भी चोरी है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की चोरियो से निवृत्ति प्राप्त कर लेना ही अचौर्य महाव्रत का परिपूर्ण पालन है।

(५) शब्द-नय

जो व्यक्ति दूसरे की यश-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार एव मान-सम्मान को स्वय प्राप्त करना चाहता है, वह महाव्रती भी चोरी के दोष से अछूता नही है। जैसे कि चोरी पाँच प्रकार की होती है—

(क) तप-चोर—तप कोई दूसरा करे और तपस्वी आप कहलावे—गुप्त रूप मे खाना खाए और प्रकट रूप में तपस्वी कहलावे। कोई दर्शनार्थी किसी दुर्बल मुनि को देखकर भाव प्रवण शब्दो मे ऐसा बोले—धन्ना मुनि की तरह दुष्कर करनी करने वाले आप ही है क्या ? और उत्तर देते हुए यदि ऐसा कहे—साधु तो सदैव ही तपस्वी होते हैं। तपस्वो न होते हुए भी तपस्वी की प्रतिष्ठा लूटने से महामोहनीय कर्म बन्धता है। अत जो 'तप चोर' होता है, वह किल्विषी देवता बनता है।

(ख) वय-चोर—दो मुनि विचर रहे है। एक वय मे युवक है किन्तु पर्याय मे ज्येष्ठ, और दूसरा मुनि वय मे वृद्ध है किन्तु पर्याय मे कनिष्ठ। दर्शनार्थी श्वेत केश देखकर यह पूछे कि—बडे महाराज क्या आप ही है ? इसका उत्तर देते हुए कहे कि—साधु तो हमेशा बडे ही होते है, अर्थात्—बड़े साधु की प्रतिष्ठा आप स्वय प्राप्त करना। इसे 'वय चोर' कहते हैं।

(ग) रूप-चोर—एक जैसा रूप, एक जैसा डीलडौल, एक जैसा नाम, एक जैसा वेष दो मुनियो का है। उनमे एक प्रसिद्ध एव प्रतिष्ठित है, और दूसरा अप्रसिद्ध एव अप्रतिष्ठित। एक प्रश्नकर्त्ता ने पूछा क्या आप वही है, जिनकी कीर्त्ति विश्व

किया गया है, उससे अधिक समय लेना भी चोरी है। आज्ञा लिए बिना किसी वस्तु को परोक्ष रूप मे देख लेना भी चोरी है। सयम के मार्ग मे उद्यम न करके आलस्य और प्रमाद प्रकट करना, वार-बार विषयो का सेवन करना, तप मे अरुचि प्रकट करना, और स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करना भी चोरी है। दीक्षित साधु को सयम के पथ से भ्रष्ट करना भी चोरी है।

कृतघ्नता भी एक प्रकार की चोरी है। जादू-टोना और धागा-तावीज बनाना भी चोरी है। किसी खेल-तमाशे को या किसी काम-वर्द्धक वातावरण को छिपकर देखना भी चोरी है। किसी की कविता मे या किसी के निवन्ध मे अपना नाम जोडना भी चोरी है। अपने पास आवश्यकता से अधिक उपकरण होते हुए दूसरे को अत्यन्त आवश्यकता होने पर न देना भी चोरी है। दान देते हुए को अन्तराय देना भी चोरी है। जितनी भूमि की आज्ञा ली है, उससे अधिक अपने काम मे लेना भी चोरी है। चतुर्विध श्री सघ की समृद्धि के लिए वनाए गए विधान को तोडना भी चोरी है। आचार्य, गुरू या रत्नाधिक की विना आज्ञा से किसी पदार्थ को प्राप्त करना, और उसे बिना दिखाए सेवन कर लेना भी चोरी है। रसोईघर मे रसोईया प्राय क्यारियाँ वनाकर मर्यादा वनाता है, उस मर्यादा का उल्लघन करके अन्दर जाना भी चोरी है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की चोरियो से निवृत्ति प्राप्त कर लेना ही अचौर्य महाव्रत का परिपूर्ण पालन है।

(५) शब्द-नय

जो व्यक्ति दूसरे की यश-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार एव मान-सम्मान को स्वय प्राप्त करना चाहता है, वह महाव्रती भी चोरी के दोष से अछूता नही है। जैसे कि चोरी पॉच प्रकार की होती है—

(क) तप-चोर—तप कोई दूसरा करे और तपस्वी आप कहलावे—गुप्त रूप मे खाना खाए और प्रकट रूप मे तपस्वी कहलावे। कोई दर्शनार्थी किसी दुर्बल मुनि को देखकर भाव प्रवण शब्दो मे ऐसा बोले—धन्ना मुनि की तरह दुष्कर करनी करने वाले आप ही है क्या ? और उत्तर देते हुए यदि ऐसा कहे—साधु तो सदैव ही तपस्वी होते है। तपस्वो न होते हुए भो तपस्वी की प्रतिष्ठा लूटने से महामोहनीय कर्म बन्धता है। अत जो 'तप चोर' होता है, वह किल्विपी देवता वनता है।

(ख) वय-चोर—दो मुनि विचर रहे है। एक वय मे युवक है किन्तु पर्याय मे ज्येष्ठ, और दूसरा मुनि वय मे वृद्ध है किन्तु पर्याय मे कनिष्ठ। दर्शनार्थी श्वेत केश देखकर यह पूछे कि–बडे महाराज क्या आप ही है ? इसका उत्तर देते हुए कहे कि–साधु तो हमेशा बडे ही होते है, अर्थात्–वडे साधु की प्रतिष्ठा आप स्वय प्राप्त करना। इसे 'वय चोर' कहते है।

(ग) रूप-चोर—एक जैसा रूप, एक जैसा डीलडौल, एक जैसा नाम, एक जैसा वेष दो मुनियो का है। उनमे एक प्रसिद्ध एव प्रतिष्ठित है, और दूसरा अप्रसिद्ध एव अप्रतिष्ठित। एक प्रश्नकर्त्ता ने पूछा क्या आप वही है, जिनकी कीर्त्ति विश्व

भर मे फैल रही है ? ऐसा सुनकर मौन धारण करे या ऐसा कहे—साधु तो लब्ध-प्रतिष्ठ होते है । ऐसा गोलमोल जवाब देना कि जिससे पूछने वाले को ऐसा प्रतीत हो कि यह वही है जिनके दर्शन मै करना चाहता था । इसे 'रूप चोर' कहते है ।

(घ) आचार-चोर—शुद्धाचारी न होते हुए भी अपने आपको शुद्धाचारी कहे, गुप्त रीति से अनाचार सेवन करना किन्तु जनता के समक्ष क्रिया-पात्र बनना और चौथे आरे के आचरण का प्रदर्शन करना । इसे 'आचार चोर' कहते है, अर्थात्—चारित्र विहीन होते हुए भी शुद्ध चारित्री की प्रतिष्ठा लूटना ।

(ङ) भाव-चोर—चोरी से ज्ञान सीखना, मायाचारी से ज्ञान सीखना, जिन-जिन आगमधरो से सूत्रो का ज्ञान प्राप्त किया है, उनका नाम और उपकार छिपाना । किसी के पूछने पर यह उत्तर देना—'मैने श्रुत-ज्ञान स्वयमेव प्राप्त किया है ।' ऐसा उत्तर देने वाला 'भाव चोर' कहलाता है ।

तीर्थङ्कर की आज्ञा भग करना और निषिद्ध क्रिया का आचरण करना भी चोरी है । कोई भी महाव्रती यदि उक्त क्रिया करता है, तो वह शब्द-नय की दृष्टि से चोर है । रोगी, ग्लान या महा तपस्वी के नाम से लाए हुए आहार को स्वयमेव सेवन कर लेना भी चोरी है । अत. ऐसा कहना चाहिए कि—जो अप्रमत हैं, वस्तुत अचौर्य महाव्रत के प्रति-पालक वे ही है । प्रमत्त-दशा मे तो सूक्ष्म अदत्ता दान का दोष लगता ही रहता है ।

(६) समभिरूढ-नय

प्रमत्त अवस्था मे लगे हुए दोषो की आलोचना और निन्दना ग्रहण न करना भी एक प्रकार की चोरी है। और जब तक मोह एव लोभ का उदय है, तब तक अप्रमत्त अवस्था मे भी अदत्तादान के दोप से अछूता नही रहा जा सकता, अर्थात्—दसवे गुण-स्थान तक अदत्तादान (चोरी) का दोप लगता है। वीतरागता मे अचौर्य दोप नही लगता। यह कथन समभिरूढ-नय की अपेक्षा से समझना चाहिए।

(७) एवंभूत-नय

जहाँ तक कोई भी जीव छद्मस्थ और अल्पज्ञ है, वहाँ तक चोरी के दोष स अछूता नही रहता। सर्वज्ञ होने पर ही अचौर्य महाव्रत पूर्ण विकसित होता है। घातिया कर्मो के सर्वथा क्षय होने से ही दुर्गुणो का विलय होता है।

दोषो का मूल कारण मन ही है। तेरहवे गुण-स्थान मे मन सक्रिय नही होता। 'चौर्य' यह दोष घातिया कर्मजन्य है। अघातिया कर्मो से आत्मा मे किसी प्रकार भी विकार नही होता। अत जहाँ अचौर्य की परिभाषा उक्त शैली से की जाए, वहाँ एवभूत-नय की अपेक्षा से ही समझनी चाहिए।

निहितं वा पतितं वा,
सुविस्मृतं वा पर-स्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते,
तदकृश चौर्यादुपारमणम् ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३, ५७,

किसी की रखी हुई, पडी हुई भूली हुई तथा विना दी हुई वस्तु को न स्वय ग्रहण करना और न दूसरे को देना—यह अस्तेयव्रत है ।

•

ब्रह्मचर्य

(१) नैगम-नय

काम और राग की प्रेरणा से दो प्राणियो के सयोग से होने वाले वैषयिक सुख को 'मैथुन' कहते है। मैथुन क्रीडा न करना, इसे 'ब्रह्मचर्य' कहते है। जो व्यक्ति अबोध अवस्था मे, लज्जा अवस्था मे एव वार्द्धक्य मे स्वास्थ्य रक्षा के लिए, बल-वृद्धि के लिए, स्वर्ग प्राप्ति के लिए, परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होने के लिए, विद्या प्राप्ति के लिए (ब्रह्मचर्येण विद्या, विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्) तथा राज-भय से, समाज-भय से, अपयश के भय से, किसी लौकिक कार्य मे व्यग्र-चित्त रहने से, धन नष्ट होने के भय से, समय और स्थान की प्रतिकूलता से, विवेक न होने से, दवाइयो के द्वारा वीर्य रोकने से, उपशान्तता से, कार्य की सफलता के उद्देश्य से, परवशता से, आयु, यौवन, रूप एव स्वर--इन सभी की रक्षा के लिए, रोग के भय से (भोगे रोग भयम्) आदि उद्देश्य से जो मैथुन क्रीडा नही करता है, इस नय की दृष्टि से वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला सम्यक्-दृष्टि हो, मिश्र-दृष्टि हो या मिथ्या-दृष्टि हो, उसे ब्रह्मचारी कह सकते हैं।

(२) सग्रह-नय

सम्यक्-दृष्टि ही ब्रह्मचर्य के वास्तविक महत्त्व को जानता है। मिथ्या-दृष्टि ब्रह्मचर्य का पालन तो करता है, परन्तु उसका दृष्टिकोण ठीक न होने से वह ब्रह्मचारी नही कहलाता। क्यो कि मिथ्यात्त्व मोहनीय कर्म के उदय भाव मे किसी भी धर्म के अग को वास्तविक रूप मे नही जाना जा सकता, और बिना ज्ञान के किसी भी क्रिया का कोई महत्व नही है।

आत्मा का ध्येय ससार के जन्म-मरण आदि दु खो से सर्वथा छूट कर मोक्ष प्राप्त करना है। इस ध्येय को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब सम्यक्त्व हो, दृष्टिकोण ठीक हो, विवेक हो, और शरीर एव मन स्वस्थ हो (शरीर माद्य खलु धर्म-साधनम्), जैसे वायु के चलने से वृक्ष के पत्ते हिलने लग जाते है और वायु के न चलने से पत्ते भी नही हिलते। पत्तो के हिलने से छोटी डालियाँ हिलती है, उनके हिलने से बडी डाली हिलती है और बडी डाली के हिलने से समुच्चय वृक्ष हिलने लग जाता है। इसी प्रकार काम वासना पैदा होने से वीर्य की नाडी मे कम्पन होता है। त-पश्चात् अन्यान्य नाडियो मे और समुच्चय सर्वाङ्ग मे कम्पन होने लग जाता है। तव मन, वुद्धि और शरीर भी अस्वस्थ हो जाते है। उस अस्वस्थता का एकमात्र इलाज ब्रह्मचर्य ही है। वस्तुत ब्रह्मचर्य मानव-धर्म का एक प्रधान अङ्ग है, अत: प्रधान अङ्ग की रक्षा करने से उसके सहचारी उपाङ्गो की रक्षा स्वयमेव हो जाती है। ब्रह्मचर्य से मन, वुद्धि और शरीर विल्कुल स्वस्थ रहते है। इनके स्वस्थ रहने से

विचार भी शुद्ध एव उच्च रहते है । अत यह सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्व-पूर्वक जो सदाचार पालन किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य के विषय मे सग्रह्-नय का यह दृष्टि-कोण है ।

(३) व्यवहार-नय

श्रेष्ठ आचरण को ही सदाचार कहते है । आत्मा के किसी भी एक प्रधान गुण को अपनाने से उसके सहचारी अनेक गुण अनायास ही स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं । उनको अपनाने के लिए कठोर परिश्रम की आवश्यकता नही रहती । जैसे किसी सम्राट् को अपने अनुकूल करने से अन्य सभी राज्याधिकारी स्वयमेव अनुकूल हो जाते हैं, वैसे ही अकेले ब्रह्मचर्य के आश्रित अनन्त गुण स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं । जितने अशो मे ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक पालन होता जाएगा, उतने ही अश मे आत्मा का कल्याण होता जाएगा ।

जो सवथा अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता, फिर भी दुराचार से सन्तोष धारण करना चाहता है , तव विवाह की रस्म अदा करनी पडती है, अर्थात्—जो विवाह किया जाता है वह सदाचार की रक्षा के लिए है, न कि भोग की पूर्ति के लिए । जिस प्रकार स्त्री का पति-व्रत धर्म है, वैसे ही पुरुप का भी पत्नी-व्रत धर्म है ।

'विवाह' पुरुप और स्त्री के आजीवन साहचर्य का नाम है । यह साहचर्य ही काम वासना की दवा है, और ब्रह्मचर्य के समीप पहुँचने का सहज साधन है । यह साहचर्य तभी

निभता है, जबकि एक दूसरे के स्वभाव, गुण, आयु, वल-वैभव तथा सौन्दर्य आदि को दृष्टि मे रखा जाए।

व्यवहार-नय का मन्तव्य है कि—जो सम्यक्-दृष्टि ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतीज्ञा नही लेता, वह चाहे सारी उम्र भर मैथुन न करे, फिर भी वह ब्रह्मचारी नही कहला सकता, क्योकि सकल्प हीन कार्यो मे सन्देह रहता है। प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेने पर कार्य मे विघ्न डालने वाली वाधाओ को सहने की शक्ति पैदा हो जाती है और मन मे दृढता रहती है। साथ ही इस वात का भय भी रहता है कि प्रतिज्ञा भ्रष्ट न हो जाऊँ। विना प्रतिज्ञा किए, ब्रह्मचर्य व्रत पालन मे परलोक का आराधक नही हो सकता। जिसने स्व-पत्नी पर, अथवा स्व-पति पर आजीवन के लिए सन्तोप धारण कर लिया, वह भी सदाचारी ही है। इस व्रत का नाम स्व-दार सन्तोप व स्व-भर्त्ता सन्तोप है स्व-दार रमण नही है। क्योकि स्व-दार रमण मे स्वच्छन्दता को स्थान है, परन्तु स्व-दार सतोष मे स्वच्छन्दता को स्थान नही है। 'स्व-दार' उसे कहते है—जिसके साथ लोक और समाज की प्रचलित रीति से विवाह हुआ है। उसके सिवाय सभी पर-स्त्री है, अथवा पर-पुरुप है। किन्तु उस एक पर भी अत्यासक्ति नही होनी चाहिए, क्योकि जान-बूझकर रोग को पैदा नही किया जाता। यदि कभी रोग पैदा हो जाए, तो उसका इलाज किया जाता है। परन्तु वासना को स्वय नही जगाना चाहिए, वल्कि उद्दीप्त वासना का सामाजिक मर्यादा मे शमन करना भी सदाचार कहलाता है।

दोनो (पति, पत्नी) मे से एक के रुग्ण हो जाने पर, या विदेश जाने पर, या अन्य किसी कारण से थोडे काल के लिए किसी को धन देकर समागम करना प्रथम 'अतिचार' है। अविवाहिता, गणिका, विधवा या पति-परित्यक्ता से समागम करना दूसरा 'अतिचार' है। स्त्रियो के नग्न नाच देखना, त्याग वाले दिन मैथुन के अलावा स्पर्शनेन्द्रिय सुख भोगना, काम-सेवन के लिए जो प्राकृतिक अङ्ग है, उनके सिवाय शेष सब अङ्ग काम-सेवन के लिए अनङ्ग है--जैसे हस्त-मैथुन, गुदा-मैथुन आदि तीसरा 'अतिचार' है।

इसी प्रकार दूसरो के पुत्र और पुत्रियो का पुण्य समझकर विवाह करना या दूसरो का रिश्ता छुडाकर अपने साथ करना भी 'अतिचार' है। चौथा व्रत धारण करने के पश्चात् अनेक शादियाँ करना, भी अतिचार है। क्योकि आनन्द श्रावक की तरह अपनी स्त्री का नाम लेकर ही यह व्रत धारण किया जाता है। केवल उसी स्त्री पर सन्तोष किया जाता है, प्रतिज्ञा करने से पहले जिसके साथ विवाह हो गया हो। जैसे स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार नही, वैसे ही पुरुष को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार नही है। पुनर्विवाह करना चौथा 'अतिचार' है।

काम-वासना की तीव्र अभिलाषा प्रकट करना, पशुओ पर भी नीयत बिगाडना, विषय-वर्द्धक दवाइयाँ खाना, या स्व-पत्नी के साथ भी आवश्यकता से अधिक समागम करना पाँचवाँ 'अतिचार' है। अतिचार मे सदाचार दूषित हो जाता है और देश रूप से खडित भी हो जाता है। इन पाँच

अतिचारो को जानना तो अवश्य चाहिए, परन्तु इन्हे आचरण मे कदापि नही लाना चाहिए। यह है व्यवहार-नय के अनुसार ब्रह्मचर्य की सक्षिप्त परिभाषा।

(४) ऋजुसूत्र-नय

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के दो उपाय है—एक ज्ञान-मार्ग, और दूसरा क्रिया-मार्ग। क्रिया-मार्ग ब्रह्मचर्य के विरोधी सस्कारो को रोकता है, और ज्ञान-मार्ग अब्रह्मचर्य के सस्कारो को निर्मूल कर देता है।

ज्ञान-मार्ग के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रक्षण होता है, परन्तु क्रिया-मार्ग के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रक्षण नही होता। ज्ञान-मार्ग उत्तम उपाय है और उसमे अन्तरङ्ग कारण है।

क्रिया-मार्ग मे बाह्य नियम एव उपनियमो का समावेश हो जाता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग मे वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का सयम रखना ही नही है, अपितु ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। अत उपस्थ इन्द्रिय के सयम के साथ-साथ अन्य इन्द्रियो का निरोध करना भी आवश्यक है।

प्रस्तुत नय उसी को ब्रह्मचारी मानता है, जिस व्यक्ति ने तीन करण और तीन योग से अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग कर दिया हो। इस व्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएँ बतलाई गई है, जिनका पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

पहली भावना—जिस जगह स्त्री, पशु और नपुसक रहते हो, उस जगह नही ठहरना, अर्थात्—जिस स्थान मे

ठहरने से घर मे बैठी हुई स्त्री दिखाई दे, द्वार से आती-जाती दिखाई दे, आँगन मे, झरोखे मे, चौबारे मे, कोठी मे, महल मे, या पीछे के स्थान मे स्त्रियाँ दिखाई दे, या उनकी बाते सुनाई देती हो, जहाँ स्त्री-शृङ्गार की कथा होती हो, उनके हँसने-रोने की आवाज आती हो, गाने और क्रीडा की अवाज आती हो, उस जगह कदापि नही ठहरना। फिर चाहे वहस्थान कितना ही अच्छा क्यो न हो, वहाँ ठहरना ब्रह्मचर्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

जिस प्रकार बिल्ली के निवास स्थान के पास चूहो का रहना असगत है, इसी प्रकार स्त्रियो मे रहने वाली जगह मे ब्रह्मचारी पुरुष का रहना सर्वथा असगत एव हानिकर है। क्योकि वहाँ रहने से उसके ब्रह्मचर्य मे हानि पहुँचने की सभावना रहती है। —(उ० अ० ३२, गा० १३)

भले ही मन, वचन और काया रूप तीन गुप्तियो से गुप्त ऐसे समर्थ मुनि, जो वस्त्रा भूषणो से सुशोभित एव मनोहर देवाङ्गनाओ द्वारा भी ब्रह्मचर्य व्रत से डिगाये न जा सकते हो, तो भी उन के लिए एकान्त हितकारी जानकर विविक्त वास, अर्थात्—स्त्री, पशु, और नपु सक से रहित स्थान का सेवन करना ही प्रशस्त बतलाया है।

—(उ० अ० ३२; गा १६)

दूसरी भावना—स्त्रियो की परिषद् मे बैठकर विचित्र प्रकार की हास्य, शृङ्गार और मोह को पैदा करने वाली कथा न कहे। स्त्रियो के सौभाग्य और दुर्भाग्य तथा ६४ कलाओ का वर्णन, अमुक देश की स्त्रियो का वर्णन, विवाह आदि का

वर्णन, उनकी जाति, कुल, रूप, नाम, वेष, अलकार आदि का वर्णन–इत्यादि सहित कथाएँ न तो कहे, न सुने, न पढे और न चिन्तन ही करे। अश्लील कथाएँ कहना, सुनना, पढना और उनका चिन्तन करना भी ब्रह्मचर्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। अत ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए दूसरी भावना का पालन करना अत्यावश्यक है।

तीसरी भावना—स्त्रियो को देखना। उन का हँसना, बोलना, चेष्टा करना, और उनका हाव-भाव, कटाक्ष, चाल, विलास, खेल, नृत्य–तमाशा, सौन्दर्य, हाथ-पाँव, नयन, लावण्य, रूप, यौवन, पयोधर, वस्त्र, अलकार, अधरोष्ठ, गुप्त-स्थान आदि जोकि तप, सयम और ब्रह्मचर्य के उपघातक है, उन्हे न तो कभी देखे, न वचन से कभी प्रार्थना करे, और न मन से कभी देखने की अभिलाषा ही करे।

जो श्रमरण तपस्वी हैं, वे स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास्य तथा मधुर वचनो को, इगित, इशारा या विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टा, अर्थात्—कटाक्ष, विक्षेप आदि को अपने चित्त मे स्थापित करके उन्हे अनुराग-पूर्वक देखने का प्रयत्न कभी न करे।

—(उ० अ० ३२, गा० १४)

सदा ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त रहने वाले तथा धर्म-ध्यान मे तल्लीन रहने वाले साधुओ के लिए स्त्रियो के अङ्ग-उपाङ्ग आदि को राग-पूर्वक न देखना, उनकी इच्छा न करना, उनका चिन्तन न

करना, आसक्ति पूर्वक उनके रूप आदि का गुण कीर्त्तन भी न करना परम हितकारी है ।

—(उ० अ० ३२, गा० १५)

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए तीसरी भावना का पालन भी अनिवार्य है, ऐसा महर्पियो का अभिमत है ।

चौथी भावना—ब्रह्मचर्य महाव्रत धारण करने के पूर्व गृहस्थ अवस्था मे किये हुए भोग-विलास, एव विपय-सुख को तथा श्वशुरालय मे, उत्सव मे, खेल-तमाशे मे वेप-भूषा सहित स्त्री-क्रीडा, आलाप-सलाप, विकार-जनक वृत्तान्तो को स्मृति पथ मे न लाए, उनका कभी स्मरण भी न करे । क्योकि उनका स्मरण करना ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए घातक है, अत चौथी भावना का भी मतर्कता-पूर्वक पालन करना चाहिए ।

पाँचवी भावना—काम-वर्द्धक आहार न करे, अर्थात्—दूध, दही, घृत, तेल, गुड शकर, मिश्री, मिठाई आदि पौष्टिक तथा रसीले पदार्थो का आहार न करे । एक दिन मे अनेक बार भोजन न करे, सदैव सरस आहार न करे । दाल, शाक, अचार, चटनी, मिर्च आदि का अधिक सेवन न करे । लहसुन, प्याज का सेवन भी वर्जित है । आहार ऐसा करना चाहिए जिससे शरीर का निर्वाह भी हो सके और सयम तथा ब्रह्मचर्य व्रत की यात्रा भी समाधि पूर्वक ठीक होती रहे, अर्थात्—काम उद्दीप्त न हो, और इन्द्रियाँ उत्तेजित न हो ।

कहा भी है—दूध, घृत आदि रसो का अधिक मात्रा मे सेवन नही करना चाहिए, क्योकि प्राय रस मनुष्यो मे

कामाग्नि को दीप्त करते है। उद्दीप्त मनुष्य की ओर काम वासनाएँ ठीक वैसे ही दौडती है, जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दौडकर आते है।

—(उ० अ० ३२, गा० १०)

जिस प्रकार बहुत ईधन वाले घने वन मे लगी हुई वायु-सहित दावाग्नि शान्त नही होती, उसी प्रकार प्रकाम-भोजी (विचित्र प्रकार के रस युक्त पदार्थो को भोगने वाले) किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रिय रूपी अग्नि शान्त नही होती और वह उसके लिए हितकारी भी नही होती।

औषधियो से दवाई हुई व्याधियो की तरह, अर्थात्—जिस प्रकार उत्तम औषधियो से पराजित की हुई व्याधि फिर आक्रमण नही करती, उसी प्रकार स्त्री, पशु, नपुसक से रहित स्थान तथा आसन आदि का सेवन करने वाले तथा इन्द्रियो को दमन करने वाले पुरुषो के चित्त को राग रूपी शत्रु दबा नही सकता। —(उ० अ० ३२, गा० १२)

विकारमय स्पर्श न करना, विकारमय आसन पर न बैठना, विकारी दृष्टि न रखना, विकारी वातावरण से सदा दूर रहना, विकारी शब्द और कथा न सुनना, अश्लील शब्द न बोलना, रसना पर सयम रखना, विकारोत्पादक स्मरण भी न करना, सदैव विचारो को पवित्र रखना—यह उपाय क्रिया-मार्ग से ब्रह्मचर्य की रक्षा का है। यदि इन पाँचो भावनाओ को समतोल रूप मे वश मे रखे, तो ब्रह्मचर्य की पूर्णतया रक्षा हो सकती है। एक भावना मे ढील आ जाने से ब्रह्मचर्य महाव्रत भग होने मे कोई सन्देह नही रहता।

आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाले ब्रह्मचारी पुरुष के लिए शरीर की शोभा, स्त्री का ससर्ग, पौष्टिक आहार, ये सब तालपुट नामक उग्र विष के समान है, अर्थात्--जिस प्रकार तालपुट नामक विष तालु से लगते ही प्राणो का हरण कर लेता है, उसी प्रकार शरीर के विभूषा आदि दुर्गुण भी साधु के चारित्रिक गुणो को नष्ट कर देते है।

--(दशवै०, अ० ८ वाँ)

यह है ऋजुसूत्र-नय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की परिभाषा।

(५) शब्द-नय

'ब्रह्म' का अर्थ है---वेद तत्त्व और तप। (वेदस्तत्व तपो ब्रह्म इत्यमर) दशवैकालिक सूत्र के ६वे अध्ययन के चौथे उद्देश मे "वेयमाराहयइ", अर्थात्--विनय समाधि का उल्लेख करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किया है कि--'वेद की आराधना कर।' इस स्थल पर वेद का अर्थ--श्रुत-ज्ञान किया है। 'चर्य' का अर्थ होता है--तदनुरूप आचरण, अर्थात्--उपयोग पूर्वक श्रुत-ज्ञान का अध्ययन करना, इसे 'ब्रह्मचर्य' कहते है।

'तत्त्व' का अर्थ है--आत्मा। चैतन्य आत्मा का मनन, चिन्तन एव निदिध्यासन करने को भी 'ब्रह्मचर्य' कहते है।

तप के बारह भेद हैं। जिसका सम्बन्ध प्रत्येक तप से हो और जो उन सब का केन्द्र हो, उसे 'ब्रह्मचर्य' कहते है।

"तवेसु वा उत्तमबम्भचेर", अर्थात्--जिसका चित्त निरन्तर श्रुत-ज्ञान मे, आत्म-चिन्तन मे और तप मे सलग्न है, उस क्रिया को 'ब्रह्मचर्य' कहते है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है--सभी

'इन्द्रियो' और सम्पूर्ण 'विकारो' पर पूर्ण अधिकार करना। ब्रह्मचर्य—मन, वचन और कार्य से होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार इन्द्रियाँ मन के अधीन है। मन बुद्धि के, और बुद्धि आत्मा के अधीन है। जब बुद्धि आत्मा की सहायिका होती है, तब आत्मा अपने स्वरूप को पहचानता है। अत अपने स्वरूप को पहचानना ही 'ब्रह्मचर्य' है। यह है शब्द-नय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की परिभाषा।

(६) समभिरूढ-नय

शब्द-नय सातवे, आठवे, और नौवे गुण-स्थान के छह भागो मे से पहले पाँच भागो मे, अर्थात्—इन तीन गुण-स्थानो मे रहने वाले साधको मे 'ब्रह्मचर्य' मानता है। जब कि नौवे गुण-स्थान तक वेद मोहनीय का उदय रहता है, अत उसे हम अवेदी नही कह सकते हैं। वस्तुत अवेदी को ही ब्रह्मचारी कहा जाता है, सवेदी को नहीं। ब्रह्मचर्य के तीन भेद है—उत्तम, मध्यम, और जघन्य।

वासना को पैदा न होने देना—इसे 'उत्तम' ब्रह्मचर्य कहते हैं। सुलगती हुई वासना को तप और सयम के द्वारा उपशान्त करना—यह 'मध्यम' श्रेणी का ब्रह्मचर्य है। मर्यादा से बाहर भडकी हुई वासना को भी निष्फल कर देना, अर्थात्—निमित्त मिलने पर भी भडकी हुई वासना को पूर्ण न करना, इसे 'जघन्य' श्रेणी का ब्रह्मचर्य कहते है। इन तीनो मे उत्तम श्रेणी का ब्रह्मचर्य ही इस नय को अभीष्ट है। और वह अवेदी तथा वीतराग मे ही पाया जाता है, सवेदी मे नही।

(७) एवंभूत-नय

जव तक घातिया कर्मो का उदय या सत्ता विद्यमान है, तब तक सादि अनन्त अवेदी नही बन सकता। क्योकि–साधक ग्यारहवे उपशान्त मोहनीय गुण-स्थान से च्युत होकर पहले गुण-स्थान तक भी आ सकता है। फिर वह अवेदी कहाँ रहा ? इस नय की सादि-सान्त अवेदी पर कोई श्रद्धा नहीं है। जब तक ब्रह्मचर्य का पूर्ण विकास नही होता, तब तक केवल-ज्ञान और केवल–दर्शन उत्पन्न नही हो सकता। घातिया कर्मो के सर्वथा क्षय होने पर ही सादि अनन्त अवेदी वनता है। यही अवस्था ब्रह्मचर्य की व्यापकता की है। यह है एवभूत-नय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की सक्षिप्त परिभाषा।

मूल मेय महम्मस्स,
महा दोस-समुस्सयं ।
तम्हा मेहुण-संसग्गं,
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—दशवैकालिक सूत्र, ६–११,

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महा दोषो का स्थान है। अत निर्ग्रन्थ भिक्षु मैथुन-ससर्ग का सर्वथा परित्याग करते है।

अपरिग्रह

(१) नैगम-नय

अपरिग्रह से पहले परिग्रह का विवेचन करना अधिक उपयोगी है। अत आगम के अनुसार सर्व प्रथम परिग्रह का वर्णन किया जाता है। आगमो मे नव प्रकार का परिग्रह बतलाया है।

परिग्रह का शाब्दिक अर्थ होता है—"परि-समन्तात् मोह-बुद्धया गृह्यते य. स परिग्रह।" अर्थात्–जिसे मोह-बुद्धि के द्वारा सब ओर से ग्रहण किया जाय, वह 'परिग्रह' कहलाता है। ससार मे सभी प्राणी परिग्रह से आवृत है। यद्यपि सभी प्राणियो का परिग्रह भिन्न-भिन्न है, तथापि उन सब का अन्तर्भाव नव मे ही हो जता है। जैसे—

(१) क्षेत्र—उपजाऊ खुली भूमि, खेत, बाग, पहाड, खदान, चरागाह वन-विभाग आदि। नहर, कुँआ नल-कूप, कूल, अरहट आदि साधनो से जिसकी सिचाई की जाती है, वह प्रथम क्षेत्र है। और दूसरा क्षेत्र वह है, जिसकी वर्षा से सिचाई होती है, इत्यादि सभी भूमियो का अन्तर्भाव 'क्षेत्र-परिग्रह' मे ही जता है।

(२) वास्तु--तलघर, हर्म्य, प्रासाद, कोठी, हवेली नौहरा, मकान, दुकान, गाम, नगर, छावनी, तबेला आदि, इन सब का अन्तर्भाव 'वास्तु-परिग्रह' मे हो जाता है।

(३) हिरण्य—चाँदी के बर्तन, चाँदी के उपकरण, चाँदी के भूपण, चाँदी के सिक्के आदि, ये सभी 'हिरण्य-परिग्रह' के अन्तर्गत है।

(४) स्वर्ण—स्वर्ण के वर्तन, भूपण, सिक्के तथा अन्य उपकरण आदि, इन सव का अन्तर्भाव 'स्वर्ण-परिग्रह' मे हो जाता है।

(५) धन—टिकिट, नोट, सिक्का, मणि-माणिक्य वज्र, रत्न, हीरक, प्रवाल, मौक्तिक त्रपुप, लोह, सीसा, पाषाण, फैक्ट्री, शख, तिनिश अगुरू, चन्दन, वस्त्र, काष्ठ, चर्म, दत, रूई, कपास वाल, गध द्रव्यौपधि एव रत्न की चौवीस जातियाँ, पण्य, गुड, शक्कर, आदि, इन सभी वस्तुओ का अन्तर्भाव 'धन-परिग्रह' मे हो जाता है।

(६) धान्य—गेहूँ, जौ, चावल, कोद्रव, कँगु, तिल, मूँग, माष (उरद), अलसी, राजमाप, मसूर, कुलत्थ, सरसो, कलाय व्रीहि, मक्कई, चणक आदि, चौवीस प्रकार के धान्य-विशेप 'धान्य-परिग्रह' मे समाविष्ट है।

(७) द्विपद—स्त्री, पुत्र, पुत्री, भाई, वहन, मित्र, नाती, गोती, स्वजन, सम्वन्धी, दास-दासी, शुक, मीन, मोर, चकोर, कबूतर, हँस आदि, ये सव दो पाँव वाले प्राणी है। अत इन सव का समावेश 'द्विपद-परिग्रह' में हो जाता है। उपलक्षण

से दो पहिए वाले यान भी इसी परिग्रह मे समाविष्ट हैं। ज़ैसे—साईकिल, मोटर साईकिल आदि।

(८) चतुष्पद—गौ, वृषभ, महिषी (भेंस), हाथी, घोडा, खच्चर, ऊँट, भेड़, बकरी आदि, ये सब चार पॉव वाले हैं। उपलक्षण से चार पहिए वाले जितने भी यान है। अर्थात्—टैक्सी, जीप, मोटर ठेला, गाडी, आदि, सब का समावेश 'चतुष्पद-परिग्रह' मे हो सकता है, क्योकि इनके चार पहिए होते है। दो पहिए वाले या चार पहिए वाले, इन सभी का समावेश 'धन-परिग्रह' मे भी हो सकता है।

(९) कुप्य—उक्त परिग्रह के सिवाय जितनी भी शेष वस्तुएँ है, उन सब का समावेश 'कुप्य-परिग्रह' मे हो जाता है। इन नव का अन्तर्भाव 'दो' मे भी हो सकता है, जेसे—'चल सम्पत्ति' 'और अचल सम्पत्ति'। 'सचित्त-परिग्रह' और 'अचित्त-परिग्रह', अथवा 'कनक-परिग्रह' और 'कामिनी-परिग्रह'।

पॉच इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त रहना भी 'परिग्रह' है। जिसका परिचय इस प्रकार है—

(१) कर्ण—जो व्यक्ति जिस इन्द्रिय के विषय म अत्यासक्त होगा और उस इन्द्रिय के जितने भी विषय हैं, उनके साधन एव उपकरणो को रखने की भी अवश्य कोशिश करता है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है—'सुनना', अर्थात्—जो सुनने मे अधिक व्यग्र रहता है, वह रेडियो, टेलि-फोन, टैली-ग्राम, टेलीविजन, टैलीप्रिन्टर, गाने-बजाने के साज, बोलने के उपकरण—माईक्रोफोन, ग्रामोफोन, वायरलैस,

आदि सभी प्रकार की वस्तुएँ रखता है।

(२) नेत्र—जो व्यक्ति चक्षुरिन्द्रिय मे अत्यासक्त होता है, वह बारह प्रकार के खेल—कुश्ती, टूरनामेन्ट, ड्रामे, थ्येटर, तमाशे सर्कस, मिस्मरेज्म आदि। बत्तीस प्रकार के नाटक—सिनेमा, लीला, उत्सव, मेला, जलसा, जलूस, प्रदर्शनी, सजावट, जगमगाहट, सीन, चित्र, देश-देशान्तर पर्यटन, विशेष प्रकार के दृश्यो को देखना, इन्द्रजालिक कला आदि, इन सब का समावेश 'चक्षु' इन्द्रिय के विषय मे हो जाता है, जोकि परिग्रह का ही रूप है।

(३) नासिका—जो व्यक्ति घ्राणेन्द्रिय मे अत्यासक्त है, वह इन वस्तुओ को रखता है। जैसे पाँच प्रकार के फूल, फल, वीज, पत्र, जडी-बूटी, कस्तूरी, नस्वार, इत्र, फुलेल, केवडा, अँबर, आठ प्रकार की गन्ध, द्रव्य, धूप, अगरबती आदि, अर्थात्—जो सुगन्धि युक्त द्रव्य है, वे सब घ्राणेन्द्रिय के विषय साधन है। अत उन सभी वस्तुओ का सग्रह करना भी परिग्रह का हेतु है।

(४) जिह्वा—जो व्यक्ति रसनेन्द्रिय मे अत्यासक्त होता है, वह इन वस्तुओ को रखता है। जैसे—खाने-पीने के समस्त पदार्थ और उनके उपकरण—जिससे पदार्थ उत्पन्न होते है, जिससे तैयार किये जाते हैं, जिसके द्वारा बनाए जाते है तथा पकाए जाते है, जिसमे वे पदार्थ सग्रह करके रखे जाते है, जिससे साफ किये जाते है, जिसमे रख कर सेवन किये जाते है, वे सभी 'परिग्रह' कहलाते है। माँस, अण्डा तथा शहद खाना, देसी व अँग्रेजी शराब पीना, और

सुलफा, भाग, गांजा, चरस ग्रादि का पीना 'महापरिग्रह' कहलाता है।

(५) त्वचा—जो व्यक्ति स्पर्शनेन्द्रिय के विषय मे अत्यासक्त होता है, वह इन वस्तुओ को रखता है। जैसे—बहुमूल्य वस्त्र पहनना, ओढना, नाना प्रकार के भूषण धारण करना, सुकोमल बिछोने पर शयन करना, सुखदायी ग्रासनो पर बैठना, भोग-विलास के साधन—

शस्त्र-अस्त्र, पौउडर, साबुन तेल, ग्रौषधि वायस्लीन, क्रीम ग्रादि यातायात के साधन घोडा गाडी साइकिल मोटर वायुयान हीटर, पखे, एग्रर कण्डीशड, रैफ्रीजेटर ग्रगीठी इत्यादि वस्तुए रखना भी परिग्रह का ही रूप है।

इस प्रकार इन्द्रियो के जो विषय है, उनके समस्त उपकरण रखना भी परिग्रह है ; ग्रर्थात्—जो जिस इन्द्रिय के विषय मे ग्रत्यासक्त है, वह उन उपकरणो के लिए ग्रनेक प्राणियो का घात भी करता है, झूठ भी बोलता है ग्रौर चोरी भी करता है, अन्य प्रकार के भी बहुत से से कुकर्म करता है। हर समय ग्रार्त-ध्यान तथा रौद्र-ध्यान मे लगा रहता है। सदैव काम, क्रोध, लोभ, मोह, ग्रहकार के वशीभूत होता है। कलह, निन्दा, चुगली भी करता है। दूसरो पर मिथ्या कलक भी चढाता है ग्रौर मिथ्यात्व का सेवन भी करता है। जो सदा धर्म से विमुख ग्रौर पापो के सम्मुख रहता है, वह जीवन-पर्यन्त किसी भी इन्द्रिय को तृप्त नही कर सकता ग्रौर ग्रन्त समय मे मृत्यु प्राप्त कर दुर्गति मे जा पहुँचता है। यह है महा परिग्रहियों की दुर्दशा

का संक्षिप्त परिचय ।

लोभ मोहनीय के उदय से नव प्रकार के परिग्रह को प्राप्त करने के लिए इच्छा पैदा होती है । इच्छा से सग्रह-बुद्धि पैदा होती है । सग्रह से ममत्व-बुद्धि पैदा होती है, अतः सिद्ध हुआ कि मोह-कर्म परिग्रह सज्ञा का प्रवर्त्तक है । किसी-भी वस्तु का ममत्व पूर्वक सग्रह करना 'परिग्रह' है । अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना, वस्तु मिलने पर सग्रह करना, प्राप्त वस्तु पर मूर्च्छा या ममत्व करना, ये परिग्रह के अन्तर्भूत है ।

अथवा अनधिकृत सामगी को पाने की इच्छा करना 'इच्छा-परिग्रह' है । वर्तमान मे मिलती हुई वस्तु को आसक्ति पूर्वक ग्रहण करना 'सग्रह-परिग्रह' है । और सगृहीत सामग्री पर ममत्व करना, आसक्त होना, गृद्ध होना मूर्च्छा परिग्रह' है । परिग्रह-सज्ञा जीव को भौतिक-जगत् मे भटकाती है ।

पाँचो इन्द्रियो के जो पाँच विषय है, उन मे आसक्त होना भी परिग्रह है । पदार्थ स्वय परिग्रह नही है, किन्तु जब उसे पाकर जीव मे राग-द्वेष के परिणाम पैदा होते है, तब वही पदार्थ उपचार मे परिग्रह बन जाता है । वस्तुत जीव मे राग-द्वेष रूप अध्यवसाय ही परिग्रह है । परिग्रह वृत्तियो मे और मन मे रहता है, वस्तुओ मे नही । वस्तु 'पर' है, 'पर' मे स्व की बुद्धि बनी कि फिर तुरन्त परिग्रह बन जाता है । मूलतः 'मूर्च्छा परिग्रह' है और उससे सम्बन्धित वस्तुएँ भी परिग्रह है । वस्तु के बिना जीवन नही चलता, अत परिग्रह पीठ के पीछे रहना चाहिए, मुँह के सामने नही । अथवा

असयम, अविवेकिता और अज्ञानता; इन तीनो से सयुक्त जो बाह्य वस्तु है, उसे 'परिग्रह' कहते हैं।

जिस पदार्थ का उपयोग व उपभोग, ग्रहण व सग्रह व्यक्ति मे मूर्च्छा, ममत्व या अन्य विकार भाव लाए वह 'परिग्रह' है।

जो पदार्थ सामूहिक रूपेण समष्टि मे विपमता पूर्ण दुर्व्यवस्था पर अधिकार, हरण, शोपण, दु ख एव विनाश की प्रवृत्तियो को जन्म दे, वह 'परिग्रह' कहलाता है। कर्म-जन्य विकार को भी 'परिग्रह' कहते है। यही परिग्रह का सक्षिप्त विवेचन है।

नैगम-नय

"न परिग्रह इत्यपरिग्रह", अर्थात्—परिग्रह के अभाव को 'अपरिग्रह' कहते है। अपरिग्रह शब्द समस्त-पद है, इसमे नञ् समास हो रहा है। नञ् समास दो प्रकार का होता है—एक प्रसज्य निषेधक, और दूसरा पर्युदास निषेधक। इनमे प्रसज्य निषेध सर्व-निषेधक होता है, और पर्युदास निषेध आंशिक निषेधक होता है।

जिसके विना गृहस्थ जीवन की यात्रा, सामाजिक मर्यादा, दान तथा पुण्य-क्रिया। धर्म-क्रिया निर्विघ्नता पूर्वक न चल सके, अर्थात्—जो सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान मे साधन रूप हो, उसे 'आवश्यकता' कहते हैं। आवश्यकता से अधिक परिग्रह न रखना भी 'अपरिग्रह' है।

वह अपरिग्रह भी चार प्रकार का होता है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, और भाव से। इनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) द्रव्य से अपरिग्रह–आवश्यकता से अधिक न रखना आर्य-कर्म, आर्य-वाणिज्य, आर्य-कला, आर्य-शिल्प से द्रव्य उपार्जन करना, अधिक कर न लगाना, मामला (हाडा) अधिक न लगाना, रिश्वत न लेना, ब्लैक मार्कीट न करना, किसी पर झूठा दोषारोपण करके न लेना, हिंसा, झूठ चोरी का अवलबन लेकर द्रव्योपार्जन न करना, दुराचार करके द्रव्योपार्जन न करना, शोषण वृत्ति न रखना 'द्रव्य-अपरिग्रह' है।

(२) क्षेत्र से अपरिग्रह—किसी भी क्षेत्र मे, ग्राम, नगर, वन मे, किसी भी स्थान मे अन्याय और अनीति का अनुसरण न करना। जिस क्षेत्र मे रहे उसमे पूर्वोक्त नियमो का पालन करना 'क्षेत्र-अपरिग्रह' है।

(३) काल से अपरिग्रह—दिन, रात्रि, सप्ताह, मास, वर्ष, आयु पर्यन्त किसी भी घडी मे कितना ही सुनहरा अवसर अन्याय और अनीति से द्रव्योपार्जन का मिलता हो, उसे स्वीकार न करना 'काल-अपरिग्रह' है।

(४) भाव से अपरिग्रह—प्रकृति से भद्रता, सुकोमलता विनीतता, कषाय की मन्दता, प्रशस्त लेश्या, शुभ अध्यवसाय, सन्तोष वृत्ति, ये सब 'भाव-अपरिग्रह' के भेद है।

यदि कोई व्यक्ति स्वार्थ परायण न होकर सिर्फ राष्ट्र की उन्नति के लिए, ग्राम-नगर एव समाज सुधार के लिए, दीन-हीन की रक्षा के लिए, परोपकार के लिए, धर्म-रक्षा के हेतु द्रव्योपार्जन की इच्छा करता है, तदर्थ द्रव्य का सग्रह करता है। अपना तन-मन-धन सर्वस्व मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए वलिदान करता है, तो वह व्यक्ति भी अपरिग्रही है,

क्योकि महापरिग्रही उक्त क्रिया नही कर सकता ।

नैगम-नय

जो अपरिग्रह के स्वरूप को नही जानता है, न धारण ही करता है किन्तु पालता है, वह भी अपरिग्रही है । जानता नही, ग्रहण करता है और पालता भी है, वह भी अपरिग्रही है ।

संग्रह-नय

परिग्रह की सज्ञा ही परिग्रह की जननी है । जिसमे परिग्रह सज्ञा का बीज मात्र भी है, उसे अपरिग्रही नही कहा जा सकता है । मनुष्य की जन्मजात अवस्था मे परिग्रह सज्ञा माता के दूध तक ही सीमित होती है । फिर शनैः-शनै. माता-पिता भाई, बहनो तक, फिर खिलौने से समवयस्क साथियो से खाने-पीने तथा पहनने की चीजो से विद्या से नम्बरो से डिविजन से रुपये पेसो से, स्त्री से, बच्चो से, व्यापार, से मित्र और रिश्ते-दारो से उपकरणो से गाय भैस हाथी घोड़ा ऊँट बकरी आदि पशुओ से, युग-प्रयोग आदि से परिग्रह सज्ञा अपना घनिष्ट सम्बन्ध जोड देती है । अन्ततोगत्वा परिग्रह सज्ञा सर्वलोक मे व्यापक हो जाती है । ज्यो-ज्यो परिग्रह सज्ञा वढती जाएगी, त्यो-त्यो दु.ख की मात्रा भी वढती ही जाएगी । प्रस्तुत हुई परिग्रह सज्ञा को मिथ्या-दृष्टि वस्तुत नही समेट सकता है । सम्यक्त्व लाभ से परिग्रेह सज्ञा कम हो जाती है, और सम्यक्-ज्ञान से उसके स्वरूप को जाना जा सकता है ।

विवेक से तीव्र रस से मन्द-रस कर दिया जाता है, सम्यक्त्व सम्यक्-ज्ञान और विवेक ; इन तीनो का क्रिया-काल और

निष्ठाकाल युगवत् ही होता है, क्रमश नही । क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियाँ जड-मूल से नष्ट हो जाती है, जिनको क्षय करने की फिर कभी आवश्यकता नही रहती । वे सात प्रकृतियाँ अनन्त ससार वर्द्धक हैं, दु खो की परम्परा बढ़ाने वाली हैं । उन सात प्रकृतियो के क्षय होने से परिग्रह सज्ञा वहुत हो अल्प मात्रा मे रह जाती है ।

नैगम-नय की मान्यता है कि मिथ्या-दृष्टि भी अपरिग्रही हो सकता है । परन्तु संग्रहनय का कहना है कि जो परिग्रह के स्वरूप को जानता ही नही, वह अपरिग्रही नही हो सकता । क्योंकि जो जिसके स्वरूप को जानता ही नही, वह चाहे धारण और पालन भी करे, फिर भी वह परलोक का आराधक नही हो सकता, क्योकि वह उसके स्वरूप को जानता ही नहीं । अत कहना चाहिए कि जो अपरिग्रह के स्वरूप को भली-भाँति जानता है, वह अपरिग्रही हो सकता है । वास्तविक न्याय-नीति का स्वरूप भी सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान से ही समझा जा सकता है, मिथ्या-ज्ञान से नही । मिथ्या-दृष्टि वस्तु के बाह्य अङ्ग को समझ सकता है, जान सकता है, किन्तु भीतरी अग को नही । जबकि सम्यक्दृष्टि वाह्य अग को तो जानता ही है, साथ ही उसके भीतरी अग को भी बहुत कुछ जान सकता है । जैसे पुस्तक के वाह्य अग को अनपढ भी जानते है और देखते हैं, परन्तु विशिष्ट विद्वान उसके भीतरी अग को भी जानते हैं और देखते है ।

(क) द्रव्यसे अपरिग्रह-अनासक्ति भाव से, न्याय-नीति से,

सन्तोष पूर्वक द्रव्योपार्जन करना, उदारता से देना 'अपरिग्रह' है।

(ख) क्षेत्र से अपरिग्रह—लोक का असंख्यातवा भाग मात्र ही अपने उपभोग में लाना, इससे अधिक नही ।

(ग) काल से अपरिग्रह—सम्यक्त्व काल पर्यन्त ।

(घ) भाव से अपरिग्रह—सम्यक्त्व के पॉच लक्षण है, जैसे—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, और आस्तिक्य ।

जब उक्त पॉचो मे से किसी एक मे भी सम्यक्त्वी का उपयोग संलग्न हो, तब वही परिणाम, वही अध्यवसाय 'अपरिग्रह' है। क्योकि सम्यक्त्व अवस्था मे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, इन पॉच प्रकृतियों का बन्धन न होना ही 'अपरिग्रह' है ।

क्षायिक सम्यक्त्व अवस्था मे तो भावी काल मे भी बन्ध नही होता ।

संग्रह-नय का कहना है कि जो व्यक्ति अपरिग्रह का स्वरूप भली-भाति जानता है, ग्रहण नही करता, परन्तु पालने का अभ्यास करता है, वह भी कथंचित् अपरिग्रही है। जो अपरिग्रह के स्वरूप को नही जानता उसका ग्रहण करना, और उसका पालन करना अवस्तु है। जैसे मिथ्या-दृष्टि का अपनाया हुआ अपरिग्रह आत्म-कल्याण मे सहयोगी नही है, क्योकि वह जानता नही है। अज्ञानी का किया हुआ कार्य अज्ञान वर्द्धक होता है, यह एक सिद्धान्त है ।

व्यवहार-नय

जहाँ अपरिग्रह है—वहाँ सहानुभूति, अहिंसा, मैत्री, सत्य,

ईमानदारी और सदाचार है। जो अपनी इच्छाओ को सिर्फ आवश्यकताओ तक ही सीमित रखता है, अर्थात्—जिसने अपनी इच्छा और मूर्च्छा (ममता) पर प्रतिवन्ध लगा दिया है, उसका गृहस्थ जीवन आदर्शमय, सन्तोपमय और सुखमय वनता है। आदर्श गृहस्थ अन्याय और अनीति से सम्पन्न द्रव्य को विष तुल्य समझता है। वह माया का गुलाम नही होता। उसका वल और शक्ति सहनशीलता एव न्याय के लिए होती है, प्रभाव के लिए नही। उसका अध्ययन ज्ञान के लिए, धन-दान के लिए, शक्ति-रक्षा के लिए, और तप-निर्जरा के लिए होता है।

आदर्श गृहस्थ परिग्रह को परिमित रखता है। वह भी सिर्फ आवश्यकता पूर्ति के लिए, न कि तृष्णा पूर्ति के लिए। मर्यादा से उपरान्त धन, माल, मिलकत, राजपाट, सत्ता, अधिकार मिलने पर भी "लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ" इच्छा और ममत्व का त्याग करता है। वह ऐन्द्रियक भोग भोगते समय अनासक्ति, परमात्मा और मृत्यु का ध्यान रखता है। वोलते समय सत्य का विनाश न हो जाए, इस वात का ध्यान रखता है। सोते समय, वैठते समय, उठते समय, चलते समय, खाते-पीते समय यतना को नही भूलता, उसका अन्त करण सतत जागृत ही रहता है। जागृत की परिभापा है—जो पापो से आत्मा को रक्षा करता है। जीता वही है, जो जीवन का वास्तविक उद्देश्य समझ कर उसे सफल वनाता है। उसीको आदर्श गृहस्थ कहते हैं, जिसको जैन-परिभापा मे 'श्रमणो-पासक' भी कहते है।

अपरिग्रह के बिना अहिसा, सत्य, ईमानदारी और सदाचार अपाहिज है। वास्तव मे अपरिग्रह त्याग-मूलक नही है, बल्कि अग्रहण-मूलक है। अपरिग्रह का अर्थ ग्रहण करके त्याग या दान करना नही है, बल्कि ग्रहण न करना ही वास्तव मे अपरिग्रह है।

स्थूलपरिग्रह विरमण-व्रत—ग्रहण-मूलक और त्याग मूलक दोनो प्रकार का है। इसी को इच्छा परिमाण व्रत भी कहते हैं।

(क) द्रव्य से अपरिग्रह—उपर्युक्त नव प्रकार के परिग्रह मे से मर्यादा से उपरान्त सभी प्रकार के परिग्रह से रहित होना 'अपरिग्रह' है।

(ख) क्षेत्र से अपरिग्रह—छह दिशाओ का परिमाण करना, दिशावकाशिक व्रत की आराधना करना भी 'अपरिग्रह' है।

(ग) काल से अपरिग्रह—दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, यावज्जीवन पर्यन्त।

(घ) भाव से अपरिग्रह–जितना प्रतिदिन त्याग किया जा सके, जितनी प्रतिदिन मर्यादित वस्तु को भी कम किया जा सके, इच्छा को कम करना, सग्रह-बुद्धि को घटाना, ममत्व-बुद्धि को कम करना 'जेममाइए मइ चयइ से चयइ ममाइय'', अर्थात्—जो ममत्व बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व को छोड सकता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के सर्वथा क्षय करने से जो भाव पैदा होते हैं, वह 'अपरिग्रह' है।

स्थूल परिग्रह केवल निवृत्यात्मक ही नही है, बल्कि

प्रवृत्यात्मक भी है। त्याग और अग्रहण निवृत्यात्मक है, क्योंकि इसमे निवृत्ति की प्रधानता है। किन्तु इस प्रकार का दान देना प्रवृत्यात्मक अपरिग्रह। स्थूल अपरिग्रह धर्म की त्रिमूर्ति। इच्छा को परिमित से भी परिमित करते रहना।

इच्छा परिमित होते हुए भी अन्याय और अनीति से सग्रह न करना, धर्म से अपनी आजीविका चलाना "धम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणे विहरइ", और न्याय-नीति से उपार्जित सम्पति प्रवचन प्रभावना के लिए, चतुर्विध श्री सघ की समुन्नति के लिए, सहायता पहुँचाने के लिए, श्रुत सेवा के लिए। परिग्रह के ऊपर से ममत्व घटा कर दान देना भी 'अपरिग्रह' है। परन्तु जो व्यक्ति मर्यादा उपरान्त परिग्रह का त्याग और अणु-व्रत धारण कर लेता है, वह यदि दान देता है तो उसका महत्व अधिक है, बनिस्वत उसके जोकि अधर्म से द्रव्य उपार्जित करता है और फिर दान करता है ।

राजा प्रदेशी 'जोकि पहले महारम्भी और महा-परिग्रही था, सम्यक्-दृष्टि होने के पश्चात् बारह व्रत केशीकुमार श्रमण के समक्ष धारण किये और उन्ही की साक्षी से अपनी रमणीकता को स्थिर रखने के लिए उसने अपने राज्य की आमदनी का चौथा हिस्सा दान के लिए निकाला। यह सत्य है राजा प्रदेशी के मन मे दान देने के दो लक्ष्य थे—एक अनुकम्पा, और दूसरा प्रवचन प्रभावना। सम्यक्-दृष्टि के अन्दर पाँच लक्षण पाये जाते है—शम,सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, और आस्था। सम्यग्-दृष्टि मे अनुकम्पा का होना स्वाभाविक है। सम्यक्-दृष्टि मे अनुकम्पा कारण

रूप मे नही, बल्कि कार्य रूप मे परिणत हो जाती है। अनुकम्पा भाव से दान-शाला खोली, जिसमे दीन-हीन, अनाथ अपाहिज, रोगी, भूखे-प्यासे मुसाफर आदि सब की देख-रेख; रहन-सहन, औपधोपचार, विद्या-दान, खाने-पीने तथा रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया गया था। यह है अनुकम्पा का साकार रूप।

उसका दूसरा लक्ष्य था—प्रवचन-प्रभावना का। जिससे जैनेतर जनता मे भी जिन-धर्म के प्रति श्रद्धा सम्मान बढे तथा लोगो को भी मालूम पड जाए कि जब से राजा प्रदेशी श्रमणोपासक बना, तभी से दानवीर बना और गरीबो की देख भाल करने लगा। दयावीर, दानवीर, और शान्त वीर बना, राजा का अनुकरण प्रजा ने भी किया। "यथा राजा तथा प्रजा" की कहावत चारितार्थ हुई। यह है श्रमणोपासक बनने का पहला दिग्दर्शन।

सनत्कुमार इन्द्र ने पूर्वभव मे चतुर्विध श्री सघ को सहायता पहुँचाई, वह उनका हितेषी था, उन्हे धर्म मे सुस्थिर किया, उनके लिए अपना सर्वस्व न्यौच्छावर किया। वस्त्र-दान भोजन-दान औषधि-दान तथा विद्या-दान इत्यादि अनेक प्रकार से चतुर्विध श्री सघ को सहायता पहुँचाई। अनुकम्पा भाव से सहायता पहुँचाने का परिणाम यह निकला कि वह क्षायिक सम्यक्-दृष्टि, परित ससारी, सुलभ बोधि, आराधक और चरम शरीरी बना। यह है आध्यात्मिक क्षेत्र की सफलता, आगे चल कर वह चतुर्विध श्री सघ सेवक महर्द्धिक दीर्घायुष्क महासुखी, महाप्रतापी, महाप्रभावक, शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र, दोनो

इन्द्रो पर जिसका पूर्ण प्रभाव है, इत्यादि अनेक विशेषणो से सम्पन्न तीसरे देवलोक का इन्द्र बना। यह है पुण्यानुबन्धी पुण्य का फलादेश-जिसने क्रमश पहले स्थूलप्राणातिपातविरण व्रत, स्थूल मृषावाद विरमणव्रत, स्थूल अदत्तादान विरमण-व्रत और स्वदारा सन्तोष-व्रत धारण कर लिए हो, तत्पश्चात् अपनी इच्छा को अनन्त पदार्थों से हटाकर मर्यादित कर ली है। आवश्यकता के अनुसार परिमित पदार्थों का सग्रह न्याय-नीति से करता है, उसके द्वारा दिया हुआ दान विशेष महत्व रखता है। वस्तुत वही दान अपरिग्रह मे सम्मिलित है, उसी को दूसरे शब्दो मे त्याग भी कहते है। त्याग उसी वस्तु का हो सकता है, जिसके ऊपर से मूर्च्छाभाव हटा दिया हो। जो आशा रखकर दान दिया जाता है, वह त्याग नही गिना जाता। जो सिर्फ दान को ही अधिक महत्त्व देते है। त्याग और अग्रहण को उतना नही, वे अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ नही जानते। अपरिग्रहता के बिना केवल दान का महत्त्व वैसा ही है, जैसे किसी को बीमार बनाकर फिर उसके लिए औषधि का प्रबन्ध करना। त्याग व अग्रहण अपरिग्रह तो बिल्कुल मूले कुठार करने वाला है और दान ऊपर से ही कोपले नोचने जैसा है। त्याग खाने-पीने की दवा है, और दान सिर पर लगाने की सोठ है। त्याग से पाप का मूल-धन चुकता है, और दान से पाप का व्याज। त्याग मे अन्याय के प्रति चिढ है, और दान मे नामवरी का लालच। त्याग का स्वभाव दयापूर्ण है, और दान का ममता पूर्ण। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, और 'दान

उसकी तलहटी पर। त्याग, सवर और निर्जरा का कारण है, और दान, पुण्य तथा निर्जरा का।

जिस समय साधक यह समझ लेता है कि सब प्राणियो मे आत्मा एक समान ही है, तब वह ऐसा कोई कार्य नही करता, जिससे एक को दुख और दूसरे को सुख मिले। वह तो अपनी सुख शान्ति के लिए जितने उपकरणों की आवश्यकता होगी, उतने ही लेगा, शेष दूसरो के लिए छोड देगा। यह है व्यवहार-नय की दृष्टि से अपरिग्रह की परिभाषा।

ऋजुसूत्र-नय

छठे गुण-स्थान मे अपरिग्रह धर्म विद्यमान है। क्योकि पाँचवाँ महाव्रत है "सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण", तीन योग और तीन करण से सभी प्रकार से परिग्रह का परित्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ अवश्य ही ममत्व भाव है। जहाँ ममत्व भाव है, वहाँ सभी प्रकार के पापो का समावेश है। जहाँ पाप है, वहाँ असयम है। साधुता मे असयम का सर्वथा अभाव पाया जाता है, अत कहना चाहिए कि साधुता ही अपरिग्रह है। गृहस्थ धर्म मे अपरिग्रह सर्वाङ्गीण नही हो सकता, क्योकि श्रमणोपासक को भी परिग्रहिया क्रिया लगती है। साधुता मे परिग्रहिया क्रिया नही लगती, एतदर्थ साधु अपरिग्रही हो सकता है, गृहस्थ नही। क्योकि जब साधक साधुता अगीकार करता है, तब अपरिग्रह व्रत धारण

करते हुए इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है कि से अप्प वा बहु वा, अणु वा थूल वा चित्तमत वा अचित्तमत व नेवा सय परिग्गह परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गह परिगिण्हाविज्जा, परिगिण्हन्ते वि अन्ने न समणुज्जाणेज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि; न कारवेमि करन्त पि अन्न न समणुजाणामि ॥ —१

'मै सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग करता हूँ।' वह परिग्रह इस प्रकार है—अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचेतन अथवा अचेतन। परिग्रह को न मै स्वय ग्रहण करूँगा, न दूसरो से परिग्रह को ग्रहण कराऊँगा, और परिग्रह ग्रहण करने वाले दूसरो को भला भी न समझूँगा, आजीवन के लिए मन से, वचन से और काय से न स्वय करूँगा न दूसरो से कराऊँगा और करते हुए दूसरो को भला भी नही समझूँगा।

यहाँ परिग्रह से तात्पर्य है—क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-स्वर्ण-धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद-और कुप्य धातु। वह नव प्रकार का परिग्रह अल्पादि छह हिस्सो मे विभक्त हुआ है। वह नव प्रकार का परिग्रह ही अल्प मात्रा मे या अधिक मात्रा मे, अथवा अल्प-सख्या मे या वहुसख्या मे होता।

अणु और स्थूल का अर्थ है—वह नव प्रकार का परिग्रह मूल्य मे अणु और महान्, अथवा परिमाण मे अणु और महान्, अथवा वजन मे अणु और महान्, अथवा सूक्ष्म रूप

१—दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन—४,

और बन्दर रूप तथैव सचित्त और अचित्त, इस प्रकार का परिग्रह साधु न स्वय रख सकता है, न दूसरो से रखवा सकता है। और न रखते हुए को भला ही समझता है। यह है साधु का अपरिग्रह धर्म।

द्रव्य से अपरिग्रह

चाँदी, सौना, रत्न, मणि, मोती, सीप, शख, प्रवाल, लोहा, ताँबा, सीसा, काँसी, पीतल, आदि धातुए, क्षेत्र-वास्तु, छत्र, कमण्डल पगरखी पखा मेज कुर्सी सिहासन पाषाण चर्म सीग दास दासी प्रेषक, हाथी घोडा, गाय, भैंस, बकरी, भेड, आदि पशु, रथ, यान, विमान, पोन, गाडी, जहाज, वगैरा वस्त्र, सरकारी सिक्का 'नया पोस्टकार्ड, पोस्टेज लिफाफा टिकिट, नोट स्टाम्प आदि सभी द्रव्यो को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से परित्याग कर दिया जाता है, वह अपरिग्रह है।

क्षेत्र से अपरिग्रह

ग्राम मे, नगर मे, या अरण्य मे किसी भी स्थान विशेष मे ममत्वपूर्ण अपना किसी भी प्रकार का अधिकार न जमाना, अर्थात्—ममत्व क्षेत्र से बाहर होना अपरिग्रह है।

काल से अपरिग्रह

प्रतिज्ञावद्ध अमुक काल तक सयम निरपेक्ष न होना, अर्थात्—जीवन के अन्तिम क्षण तक एक भी क्षण-सयम निरपेक्ष न व्यतीत करना अपरिग्रह है।

भाव से अपरिग्रह

प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क के क्षय होने से जो आत्मा

मे अध्यवसाय पैदा होते हैं। अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मिथ्यात्व, वेद, अरति, रति, हास, शोक, भय, जुगुप्सा , इन १४ प्रकार के आभ्यन्तरिक परिग्रह से रहित होना अपरिग्रह है।

सयम मे उपयोगी, आवश्यकता-पूर्ति के लिए और-सयत जीवन के निर्वाह के लिए ४२ दोष टालकर आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान, आदि सेवन करना भी अपरिग्रह है।

इस नय की दृष्टि से १०० प्रकार का शिल्प सीखना, ७२ कलाएँ सीखना, शस्त्र-अस्त्र वनाने की विद्या और चलाने की विद्या सीखना, राजनैतिक, एव व्यापारिक भाषाएँ सीखना, धन कमाने की विद्याएँ सीखना, खेती वाडी का काम सीखना, डाक्टरी विद्या सीखना, सव परिग्रह है।

पद पाने के लिए, पारितोषिक के लिए, वेतन वृद्धि के लिए, यश-कीर्ति के लिए, जो कुछ भी सीखा जाए, पढा जाए, जप किया जाए, भक्ति की जाए, सेवा की जाए, मत्र-यत्र तत्र, डोरा, तावीज वगैरा सिद्ध किया जाए, वह सव परिग्रह है। जो साधु या साध्वी असयम मे सहयोगी अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त वस्तु पर आसक्ति, शिष्य शिष्या पर मूर्च्छा करते है, अपने अनुयायी वर्ग को धनाढ्य वनाने की चिन्ता, किसी के पास धनादि न होने पर चिन्ता करना, प्रसिद्धि की इच्छा करना, उपाधि प्राप्त करने के लिए अधिकारी या अनुयायियो द्वारा प्रयत्न कराना, लेख या पुस्तक अपने नाम से दूसरो के द्वारा लिखवाना, गृहस्थ के कार्यो मे भाग लेना, गृहस्थो को अपने काम के लिए भेजना, वुलाना, वैठाना,

—उक्त क्रिया करने वाले साधु-साध्वी परिग्रही हैं।

ममत्व बुद्धि से रखा हुआ उपकरण भी सयम का उपकरण नही रहता, वह तो अधिकरण बन जाता है। अनर्थ का मूल कारण बन जाता है। वास्तव मे अपरिग्रही वही साधु है, जो किसी पर मोह नही करता, किसी पर अपनापन का भाव नही लाता। खो जाने पर, नष्ट हो जाने पर, अपहरण हो जाने पर आर्त-ध्यान नही करता।

प्राणी को जिन ससारिक पदार्थों की इच्छा होती है, वे पदार्थ—शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श है।

प्राय प्रत्येक पदार्थ की इच्छा इन्द्रिय और मन की विषय-लोलुपता से ही होती है। अतएव इन पाँच इन्द्रियो के इष्ट विषयो पर राग न करना और अनिष्ट विषयो पर द्वेष न करना ही सयम है। क्योकि ये विषय शान्ति के भेदक हैं, महाव्रत के भजक है, केवलि-भाषित धर्म से भ्रष्ट करने वाले है, आत्म-बोध से दूर रखने वाले है, ससार मे भटकाने वाले है, कर्म-बधक है, कषायो के जनक है, परिणाम मे कटुक है, भव-रोग तथा पाप के वर्द्धक है।

इन्द्रियो का स्वभाव है अपने-अपने विषय को ग्रहण करना, परन्तु उनमे राग, द्वेष, मोह, एव ममता करना पाप है। किसी भी इन्द्रिय को नष्ट करना, फोडना अज्ञानता है। यह है ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से परिग्रह और अपरिग्रह की परिभाषा।

शब्द-नय

अप्रमत्त गुण-स्थानो मे विचरना, प्रशस्त ध्यान में तल्लीन

होना, आठ प्रवचन माता की आराधना करना, पूर्ण अहिंसा मय सत्यमय अचौर्यमय ब्रह्मचर्यमय एव जीवन को अपरिग्रह कहते हैं। इस नय की मान्यता है कि जो प्रमत्त गुण-स्थान हैं, उनमे विचरना परिग्रह है।

क्योंकि बाह्यपरिग्रह का कारण आभ्यन्तरिक परिग्रह है। आभ्यन्तरिक परिग्रह के निवृत हो जाने से बाह्य परिग्रह की निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है। ज्ञान ससार के बन्धनो से मुक्त करने वाला है, परन्तु यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है तो वह ज्ञान भी परिग्रह है। इसी प्रकार सयम और तप के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। इस लोक के उद्देश्य से, परलोक के उद्देश्य से, यश-प्रतिष्ठा और श्लाघा के उद्देश्य से जो कुछ भी शुभ क्रिया की जाती है, वह सब परिग्रह है। अपने वचन का मोह करना, पक्ष-पात करना, हठ करना, सविभाग ठीक न करना, किसी पदवी को पाने के लिए आगमों का अध्ययन करना भी परिग्रह है। १८ प्रकार के पाप-स्थानको से विरमण न करना भी परिग्रह है।

समभिरूढ-नय

समस्त पापो से निवृत्त होना, साम्परायिक क्रिया का रुकना, हेय को छोडना, और उपादेय को ग्रहण करना, तप और सयम मे विशुद्ध पराक्रम करना, क्षायिक भाव मे रहना, देश-घाति और सर्व-घाति कर्मों से रहित होना, तेरहवे गुण-स्थान मे प्रवेश करना, परम शुक्ल लेश्या मे रहना, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनना अपरिग्रह है।

औपशमिक भाव मे रहना, क्षायोपशमिक भाव मे रहना औदयिक भाव मे रहना, छद्मस्थ दशा मे रहना, साम्परायिक क्रिया मे रहना परिग्रह है।

एवंभूत-नय

एवभूत का सिद्धान्त है कि वास्तविक अपरिग्रह १४ वे गुण-स्थान मे होता है क्योकि वहाँ सवर और निर्जरा का पूर्ण विकास हो जाता है, अन्य किसी गुण-स्थान मे उनका पूर्ण विकास नही है। अत कहना चाहिए कि १४ वाँ गुण-स्थान ही अपरिग्रह है।

१३ वे गुण-स्थान से निर्वाण नही होता, क्योकि वहा औदारिक शरीर, तेजस शरीर और वेदनीय आयु, नाम, गोत्र-ये चार कर्म शेष है। आगम मे शरीर और कर्मो को परिग्रह माना है इसलिए १३ वाँ गुण-स्थान अपरिग्रही अवश्य है, किन्तु पूर्ण अपरिग्रही नही।

पंचसंवर का षट्द्रव्यो मे वर्गीकरण

अहिसा का विषय छह द्रव्यो मे केवल जीवास्तिकाय तक ही सीमित है। सत्य का विषय सर्व द्रव्यो तथा उनकी सर्वपर्यायो मे विद्यमान हैं। जैसे भगवान् का ज्ञान सर्वव्यापक है, वैसे ही सत्य भी, इसी कारण जैनागमो मे सत्य को भगवान् कहा है। सत्य की आराधना के लिए सम्यक् श्रद्धा सम्यक् प्ररूपणा और सम्यक् पालना आवश्यक हैं, तभी जीवन सत्यमय बन सकता है, अन्यथा नही।

अस्तेय का विषय ग्रहण और धारणा की अपेक्षा सभी

द्रव्यो मे देश-रूप से है, सर्व-रूप से नही, अर्थात्—व्याप्य रूप से है, और व्यापक रूप से नही।

ग्रहण का अर्थ होता है—खाने-पीने की वस्तु, पहनने-ओढने की वस्तु, उठाने-रखने की वस्तु, प्रातिहार्य–वापिस करने की वस्तु, पढने पढाने की पुस्तक आदि सामग्री आदि ये वस्तुएँ दाता के द्वारा हर्ष पूर्वक दी हुई निर्दोष वस्तु है' जोकि सयम जीवन के लिए उपयोगी है, आवश्यकतानुसार सन्तोष से ग्रहण करना और उसे यतना से बरतना। तथा विनय पूर्वक श्रुत-ज्ञान ग्रहण करना भी अस्तेय व्रत है।

धारण का अर्थ होता है—अचार्य-प्रवर तथा सद्गुरु की आज्ञा होने पर ही तप-जप करना, स्वाध्याय करना, सामायिक आदि षट् आवश्यक करना, सहधर्मी ग्लान आदि की वैयावृत्य करना, अध्ययन-अध्यापन सलेखना आदि करना, अर्थात् साधुता की प्रत्येक क्रिया आज्ञा से करना। महानिर्ग्रन्थो ने जिन नियम-उपनियमो का पालन किया है, उन्हे आचरण मे लाना और जो अनाचीर्ण है, उनका आचरण न करना, आज्ञा लिए बगैर कोई भी क्रिया न करना।

जिन कवियो की कविताएँ, विचारको के विचार ज्ञानियो की शिक्षाएँ, आगमधरो की धारणाऍ ग्रहण की हो उनका सदैव आभार मानना धारण अस्तेय-व्रत है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है—रूप और रूप-सहगत पुद्गलो मे अनासक्त होना।

रूप और रूप-सहगत पुद्गल क्या है?

इसका विवेचन निम्नोक्त है—

पुरुष की अपेक्षा से स्त्री और नपु सक विजातीय हैं।
स्त्री की अपेक्षा से पुरुष और नपु सक विजातीय हैं।
और नपु सक को अपेक्षा से पुरुष तथा स्त्री विजातीय है।

पुरुप-पुरुष परस्पर सजातीय है, और, स्त्री-स्त्री भी परस्पर सजातीय है।

(१) विजातीय अन्तर्वर्ती आकर्षक अङ्गोपाङ्ग को रूप कहते है, और सजातीय अन्तर्वर्ती मनोमोहक अङ्गोपाङ्ग को रूप-सहगत पुद्गल कहते है।

(२) विजतीय लिग को रूप कहते है, और उसके सहयोगी उद्दीपक समस्त अवयव और वेष-भूषा को रूप-सहगत पुद्गल कहते हैं।

(३) विजातीय को रूप कहते है और जो वास्तविक रूप से विजातीय नही है, किन्तु वेप-भूषा मे विजातीय प्रतीत होता हो, उसे रूप-सहगत पुद्गल कहते है।

(४) मैथुन के प्रधान अङ्ग को रूप कहते है और तत्सदृश आकार वाली अन्य सभी वस्तुएं रूप सहगत पुदगल है।

(५) विजातीय को नेत्र और मन का विपय करना रूप कहलाता है, और विजातीय का चित्र देखना, विजातीय मूर्ति का आलिगन करना रूप-सहगत पुद्गल है।

उपर्युक्त सभी आकर्पकों मे आत्यन्तिक निवृत्ति पाना ही ब्रह्मचर्य है।

इसका विषय सभी द्रव्यों मे देश-रूप से है, सर्व-रूप से नही।

अपरिग्रह का विषय सर्वाङ्गीण है।

शका—जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्यो मे ही परिग्रह समाविष्ट हो जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य अरूपी है, अमूर्त है, और इनसे सर्वथा निवृत्ति भी नही हो सकती। फिर इनकी गणना परिग्रह मे क्यो की गई ?

समाधान—जहाँ तक जीव और पुद्गल का सबध है, वहाँ तक उक्त चारो का सम्बन्ध नियमेन है, अर्थात—जहाँ तक कर्मो के साथ सम्बन्ध है, वहाँ तक नियमेन छहो द्रव्यो के साथ सम्बन्ध है। जो आत्मा आठ प्रकार के कर्मो से रहित है, वे अपरिग्रही है। आत्म-भाव को छोडकर शेष सभी द्रव्य-पर-भाव है। पर भाव-से सम्बन्ध विच्छेद करना ही वस्तुत अपरिग्रह है। अपरिग्रह आत्म-भाव है पर भाव नही। विभाव परिणति को परिग्रह कहते हैं, और स्वभाव परिणति को अपरिग्रह।

आश्रव और वन्ध परिग्रह है। सवर, निर्जरा और मोक्ष अपरिग्रह है। अपरिग्रह का पूर्ण विकास १४ वे गुण-स्थान मे ही होता है। वही अवस्था सादि अनन्त कहलाती है।

ड़ी निरा-
रही है।
चित्र और
तुएँ दुनिया
न्तु ताजि-
चित्रकला
उसकी वही